सत्य और यथार्थ

जे. कृष्णमूर्ति

“...आप कहते हैं कि एक रहस्य है, क्योंकि आपके लिए वह एक यथार्थ है, कोई ईजाद, कोई अंधविश्वास अथवा आत्मप्रवंचना नहीं है। आपके लिए वह सत्य है। और जो आप कह रहे हैं उसका मुझ पर, आपके सच्चेपन की वजह से, ज़बरदस्त प्रभाव पड़ता है। आप उसकी ओर मेरा ध्यान दिलाते हैं, और मैं उसे पा लेना चाहता हूँ। किसी-न-किसी तरह से मुझे उसे पाना ही है। तो आपकी मेरे तईं क्या ज़िम्मेदारी बनती है?

आप स्थिति को समझ रहे हैं? आप कहते हैं, शब्द उसका स्पर्श नहीं कर सकते, विचार उसका स्पर्श नहीं कर सकता, कोई भी कर्म, कोई ‘एक्शन’ उसका स्पर्श नहीं कर सकता, सिवाय सत्य के ‘एक्शन’ के कुछ भी नहीं; वही संभवतः आपको उसका एक एहसास दे सके।”

सत्य और यथार्थ

जे. कृष्णमूर्ति

अनुवाद
उमेश मोहन सकलानी

ISBN: 978-93-5064-284-9

प्रथम संस्करण: 2015

Satya Aur Yathaarth
Hindi Translation of 'Truth & Actuality' by: J. Krishnamurti

Translated by Umesh Mohan Saklani

राजपाल एण्ड सन्ज़
1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट-दिल्ली-110006
फोन: 011-23869812, 23865483, फैक्स: 011-23867791
website: www.rajpalpublishing.com
e-mail: sales@rajpalpublishing.com

क्रम

भाग 1: जे. कृष्णमूर्ति और डॉ. डेविड बोम के बीच संवाद

1. वास्तविकता, यथार्थ, सत्य
2. अंतर्दृष्टि एवं सत्य वास्तविकता व सत्य के बीच खाई
3. सत्य का बीज

भाग 2: वार्ताएँ और संवाद

4. सही कर्म
5. भय की समस्या
6. पहला संवाद
7. दूसरा संवाद
8. दु:ख; मृत्यु का अर्थ
9. वह पावन, धर्म, ध्यान

भाग 3: कुछ प्रश्नोत्तर

10. सही आजीविका
11. संकल्प
12. भावनाएँ और विचार
13. सौंदर्य
14. 'स्वार्थपरता' का प्रवाह
15. एकत्व लाने वाला घटक

अनुवाद-संदर्भ

भाग 1

जे. कृष्णमूर्ति और डॉ. डेविड बोम के बीच संवाद

1

वास्तविकता, यथार्थ, सत्य

कृष्णमूर्ति: मैं इस प्रश्न पर विचार कर रहा था कि सत्य क्या है और वास्तविकता क्या है तथा इन दोनों का आपस में क्या कोई संबंध है, या ये दोनों अलग-अलग हैं। क्या ये हमेशा से जुदा हैं या ये महज़ विचार के प्रक्षेपण हैं? और यदि विचार कार्य नहीं करता तब भी क्या वास्तविकता का वजूद रहेगा? मेरे विचार से 'वास्तविकता', 'रिएलिटी' शब्द 'रेस' से, 'वस्तु' से आया है, और ऐसा कुछ भी, जिस पर विचार कार्य करता है, या जिसकी संरचना करता है, या जिस पर मंथन करता है, उसे ही हम वास्तविकता कहते हैं। और विचार जब विकृत, संस्कारबद्ध तरीके से सोचता है, तब वह भ्रांति है, आत्मप्रवंचना है, विकृति है। मैंने यह चिंतन उसी बिंदु तक रहने दिया था, क्योंकि मैं चाहता था कि इसमें और अधिक जाने की बजाय इसे खुद-ब-खुद उभरने दिया जाये।
डॉ. बोम: विचार, वास्तविकता एवं सत्य के प्रश्न ने दार्शनिकों को युगों से व्यस्त रखा है। यह एक अत्यंत कठिन विषय है। मुझे ऐसा लगता है कि जो आप कह रहे हैं वह बुनियादी तौर पर सही है; किंतु इसमें कई ऐसे सवाल हैं जिनका समाधान ज़रूरी लगता है। इनमें से एक सवाल यह भी है: यदि वास्तविकता विचार है, यदि वास्तविकता वह है जिसके बारे में विचार सोचता है, और जो कुछ भी चेतना में प्रकट होता है, तो क्या वह वास्तविकता चेतना से परे जाती है?

कृष्णमूर्ति: क्या चेतना की अंतर्वस्तु, यानी जो कुछ भी चेतना में शामिल है, वह वास्तविकता है?
डॉ. बोम: सवाल यही है; और क्या हम विचार को, चेतना के—उसके बुनियादी तात्पर्य की दृष्टि से—पर्यायवाची शब्द के तौर पर इस्तेमाल कर सकते हैं?

कृष्णमूर्ति: जी।
डॉ. बोम: और मुझे लगता है कि विषय में सम्पूर्णता लाने के लिए क्या हमें विचार के अंतर्गत भावना, इच्छा, संकल्प और प्रतिक्रिया को भी शामिल नहीं कर लेना चाहिए? मैं

महसूस करता हूँ कि हमें ऐसा कर लेना चाहिए, यदि हम चेतना, वास्तविकता और सत्य के बीच संबंध की तहकीकात कर रहे हैं।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: एक और प्रश्न है जिसे मैं रखना चाहूँगा: एक तो विचार होता है, फिर हमारी चेतना है, और एक वह वस्तु भी है, जिसके प्रति हम चेतन हैं। और जैसा कि आपने अक्सर कहा है, किसी वस्तु का विचार वह वस्तु नहीं है।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: हमें इसे स्पष्ट करना होगा, क्योंकि एक अर्थ में किसी वस्तु की, विचार से एक किस्म की स्वतंत्र वास्तविकता भी हो सकती है; हम इस हद तक नहीं जा सकते कि उसे भी नकार दें या फिर हम बिशप बर्कले जैसे दार्शनिकों की तरह उतनी दूर चले जाएँ, जिनके मुताबिक सब कुछ बस विचार ही है। अब मैं एक संभवतः उपयोगी फर्क सुझाना चाहूँगा: एक वह वास्तविकता है जो अधिकांशतः निर्मित होती है हमारे विचार द्वारा, या मनुष्य-जाति के विचार द्वारा, और एक वास्तविकता वह है जिसे हम विचार पर अनिर्भर, स्वतंत्र रूप से विद्यमान समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए, क्या आप कहेंगे कि प्रकृति वास्तविक है?

कृष्णमूर्ति: हाँ, वास्तविक है।
डॉ. बोम: और प्रकृति महज़ हमारा अपना विचार नहीं है।

कृष्णमूर्ति: नहीं, साफ ज़ाहिर है कि ऐसा नहीं है।
डॉ. बोम: वह वृक्ष, यह समस्त पृथ्वी, वे तारे।

कृष्णमूर्ति: निस्संदेह, यह ब्रह्मांड। और पीड़ा भी वास्तविक है।
डॉ. बोम: हाँ, मैं उस दिन सोच रहा था कि भ्रम वास्तविक तो है, इस अर्थ में कि उस व्यक्ति के लिए, जो भ्रम की अवस्था में है, जो हो रहा होता है वह उसके लिए सच में ही हो रहा है।

कृष्णमूर्ति: उसके लिए वह वास्तविक ही होता है।
डॉ. बोम: किंतु हमारे लिए भी वह वास्तविक है क्योंकि उसका मस्तिष्क विद्युत् व रासायनिक गति की एक खास अवस्था में होता है, और वह अपने उस भ्रम की वजह से जो कुछ कर रहा होता है, वह भी एक तौर पर वास्तविक ही होता है।

कृष्णमूर्ति: वास्तविक भी, किंतु विकृत भी।
डॉ. बोम: विकृत, किंतु वास्तविक। मुझे लगता है हम कह सकते हैं कि जो मिथ्या है वह वास्तविक तो है, किंतु सत्य नहीं। यह शायद महत्त्वपूर्ण है।

कृष्णमूर्ति: समझ रहा हूँ। मिसाल के तौर पर: क्या क्राइस्ट वास्तविक हैं?

डॉ. बोम: वह निश्चित रूप से उन लोगों के मन में तो वास्तविक ही हैं जो उन पर विश्वास करते हैं, उस अर्थ में जिसकी बात हम करते आ रहे हैं।

कृष्णमूर्ति: हम सत्य और वास्तविकता के बीच जो फर्क है उसका पता लगाना चाह रहे हैं। हमने कहा था कि किसी भी वस्तु के बारे में विचार जो सोचता है, वह चाहे तर्कसंगत रूप से सोचे या अतर्कसंगत रूप से, वह वास्तविकता है। चाहे वह विकृत हो अथवा सुस्पष्ट तर्क पर आधारित हो, है वह वास्तविकता ही। मेरा कहना है, उस वास्तविकता का सत्य से कुछ लेना-देना नहीं है।

डॉ. बोम: हाँ, किंतु इसके साथ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि एक हिसाब से वास्तविकता में महज़ विचार के अलावा और भी कुछ शामिल है। फिर यथार्थ का, असलियत का भी प्रश्न है। क्या वस्तु यथार्थ है। क्या उसका अस्तित्व असलियत में एक तथ्य है? शब्दकोश के अनुसार तथ्य का अर्थ होता है: वह जो असलियत में किया गया हो, जो असलियत में हो रहा हो, जिसे असलियत में देखा-महसूस किया जा रहा हो।

कृष्णमूर्ति: हाँ, हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि तथ्य से हमारा अभिप्राय क्या है।

डॉ. बोम: तथ्य वह कार्य है जो असल में घटित हो रहा है। फर्ज़ कीजिए, मिसाल के तौर पर, कि आप अँधेरे में किसी रास्ते पर चल रहे हैं और आपको लगने लगता है कि आपने कुछ देखा है। वह वास्तविक हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। एक पल आपको लगता है कि वह वास्तविक है, और दूसरे ही पल लगता है कि नहीं, यह वास्तविक नहीं है। किंतु तब सहसा आप उसे छूते हैं और वह आपके छूने का प्रतिरोध करता है। इस कृत्य से तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस वस्तु से आपका संपर्क हुआ है वह वास्तविक है। किंतु यदि ऐसा सम्पर्क नहीं हुआ हो तो आप कहते हैं कि वह वास्तविक नहीं है, शायद वह आपका एक भ्रम था, या बहरहाल कोई ऐसी चीज़ थी जिसे गलती से आपने वास्तविक समझ लिया था।

कृष्णमूर्ति: किंतु निस्संदेह वह चीज़ अभी भी वास्तविकता ही है जिसके बारे में विचार सोचा करता है। और वास्तविकता का सत्य से कुछ लेना-देना नहीं है।

डॉ. बोम: तो अब 'वस्तु' के बारे में अपनी चर्चा को आगे बढ़ाते हैं। देखिए, अंग्रेज़ी शब्द 'थिंग'(वस्तु) की धातु मूलतः वही है जो जर्मन भाषा में 'बेडिंगन' की है, जिसका अर्थ होता है संस्कारित करना, प्रतिबंधों को लगाना, या निर्धारण करना। और हमें मानना ही पड़ेगा कि वस्तु अनिवार्यतः संस्कारित ही होती है।

कृष्णमूर्ति: वह संस्कारित होती है। इसे तो हम स्वीकार कर ही लें।

डॉ. बोम: यह एक मुख्य मुद्दा है। किसी भी तरह की वास्तविकता संस्कारित-प्रभावित होती है। इसी तरह, भ्रम भी एक प्रकार की वास्तविकता है जो संस्कारित है। उदाहरण के तौर पर किसी व्यक्ति विशेष के रक्त की संरचना अलग ढंग की हो सकती है, क्योंकि वह व्यक्ति संतुलित अवस्था में नहीं है। वह तथ्य को विकृत कर रहा है, वह हो सकता है अति उत्तेजित

अवस्था में हो, और शायद इसी कारण वह भ्रम में फँसा हुआ हो। तो हर चीज़ दशाओं द्वारा निर्धारित होती है और वह चीज़ फिर हर दूसरी चीज़ को संस्कारित-प्रभावित करती है।

कृष्णमूर्ति: जी, बिलकुल।
डॉ. बोम: सारी वस्तुएँ परस्पर संबंधित हैं, एक-दूसरे को संस्कारित करने के हिसाब से, जिसे हम प्रभाव कहते हैं। भौतिकी में यह बिलकुल स्पष्ट है कि समस्त ग्रह एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, परमाणु एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, और मैं यह सुझाना चाह रहा था कि हम शायद विचार व चेतना को भी प्रभाव की इस पूरी शृंखला का एक हिस्सा मान सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल सही है।
डॉ. बोम: इस प्रकार प्रत्येक वस्तु चेतना को प्रभावित कर सकती है और इसी प्रकार चेतना भी वस्तुओं के रूपाकार को प्रभावित करती है, उन्हें शक्ल देती है, जब हम वस्तुओं को निर्मित करते हैं। और आप तब कह सकते हैं कि यह सभी वास्तविकता है, और इसीलिए विचार भी वास्तविक है।

कृष्णमूर्ति: विचार वास्तविक है।
डॉ. बोम: और वास्तविकता का एक हिस्सा वास्तविकता के दूसरे हिस्से को प्रभावित कर रहा है।

कृष्णमूर्ति: और यह भी कि भ्रांति का एक हिस्सा भ्रांति के दूसरे हिस्से को प्रभावित करता है।
डॉ. बोम: हाँ, किंतु अब हमें सतर्क रहना होगा क्योंकि हम यह भी कह सकते हैं कि एक ऐसी वास्तविकता भी होती है जो मनुष्य या मनुष्यता द्वारा निर्मित नहीं है। किंतु वह तब भी सीमित ही है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मांड, जैसा हमें दिखाई देता है, हमारे अनुभव द्वारा प्रभावित अतएव सीमित है।

कृष्णमूर्ति: सही है।
डॉ. बोम: जो भी हम देखते हैं, उसे हम अपने ही अनुभव, अपनी ही पृष्ठभूमि के माध्यम से देखते हैं। तो वह वास्तविकता सम्भवतः मनुष्य से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतंत्र नहीं हो सकती।

कृष्णमूर्ति: नहीं।
डॉ. बोम: वह अपेक्षाकृत स्वतंत्र हो सकती है। वृक्ष एक ऐसी वास्तविकता है जो अपेक्षाकृत स्वतंत्र है, यानी उसका होना न होना मनुष्य के होने पर निर्भर नहीं करता, किंतु यह हमारी चेतना ही है जो वृक्ष का अमूर्तीकरण कर देती है।

कृष्णमूर्ति: क्या आप यह कह रहे हैं कि मनुष्य की वास्तविकता प्रभावों तथा संस्कारबद्धता

का परिणाम है?
डॉ. बोम: हाँ, पारस्परिक क्रिया व प्रतिक्रिया का परिणाम।

कृष्णमूर्ति: और उसके तमाम भ्रम भी उसके खुद के रचे हुए ही हैं।
डॉ. बोम: हाँ, ये सब आपस में गड्डमड्ड हैं।

कृष्णमूर्ति: और एक संतुलितचित्त, विवेकपूर्ण, स्वस्थ, समग्र मनुष्य का वास्तविकता से, और सत्य से, संबंध क्या है?
डॉ. बोम: हाँ, हमें इस पर गौर करना चाहिए, किंतु इससे पहले क्या हम सत्य के प्रश्न को ले सकते हैं? मेरा सोचना है कि शब्दों की व्युत्पत्ति अक्सर बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ करती है। अंग्रेज़ी का 'ट्रू' शब्द लेटिन में 'वेरुस' है जिसका अर्थ होता है "वह जो है"। उसी तरह, जैसे अंग्रेज़ी के 'वॉज़' और 'वर', या जर्मन भाषा का शब्द 'वाह्र'। अब अंग्रेज़ी में 'ट्रू' शब्द का जो मूल अर्थ है वह ईमानदार व निष्ठावान होना है। देखिए, हम प्रायः ऐसा कह सकते हैं कि एक रेखा 'ट्रू' (सही) है या एक मशीन 'ट्रू', सही है। मैंने कभी पढ़ा था एक धागे के बारे में, जो बहुत सही जाता था; इसमें एक चरखे के बिंब का प्रयोग हो रहा था जिसमें धागा सीधा निकल रहा है।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल।
डॉ. बोम: और अब हम कह सकते हैं कि हमारे विचार, या हमारी चेतना "वह जो है" के प्रति सच्ची है, यदि वह सीधे-सही चल रही है, यानी यदि व्यक्ति संतुलितचित्त एवं स्वस्थ है। और अगर ऐसा नहीं है तो वह वह विचार, वह चेतना मिथ्या है, असत्य है। अतः मानव चेतना का मिथ्यात्व, सिर्फ गलत सूचना का मामला नहीं है, अपितु वह चेतना, वास्तविकता के रूप में, वस्तुतः टेढ़ी चल रही है।

कृष्णमूर्ति: तो आप कह रहे हैं कि जब तक मनुष्य संतुलितचित्त, स्वस्थ, समग्र तथा विवेकयुक्त है, उसका धागा हमेशा सही-सीधा जा रहा है।
डॉ. बोम: हाँ, उसकी चेतना सीधे-सही धागे की मानिंद है। अतः उसकी जो वास्तविकता है वह...

कृष्णमूर्ति: ...उस मनुष्य की वास्तविकता से भिन्न है जिसका धागा सीधा नहीं है, जो युक्तियुक्त नहीं है, जो असंतुलित है।
डॉ. बोम: एकदम भिन्न है। बाद वाली स्थिति शायद विक्षिप्त भी हो। विक्षिप्त लोगों के संदर्भ में यह देखा जा सकता है कि उनके लिए वास्तविकता कितनी अलग होती है—कभी-कभी तो वे वास्तविकता को कतई देख ही नहीं पाते।

कृष्णमूर्ति: और वह जो संतुलितचित्त है, स्वस्थ है, संपूर्ण है, अतएव पवित्र है, उस मनुष्य

का सत्य से क्या संबंध होता है?
डॉ. बोम: यदि आप सत्य शब्द के इस अर्थ को स्वीकार करते हैं, यदि आप कहते हैं कि सत्य वह है जो मौजूद है, और यह, जो है, उसके प्रति सच्चा रहना भी है, तो आपको कहना होगा कि वह मनुष्य यह सब कुछ है।

कृष्णमूर्ति: तो क्या आप कहेंगे कि वह मनुष्य जो स्वस्थचित्त है, अखंड है, वह सत्य ही है?
डॉ. बोम: वह सत्य ही है, हाँ।

कृष्णमूर्ति: ऐसा मनुष्य सत्य है। हालाँकि वह कुछ चीज़ें सोच सकता है जो वास्तविकता के क्षेत्र में होंगी, किंतु वह मनुष्य सत्य है। वह तर्कविरुद्ध ढंग से नहीं सोचेगा।
डॉ. बोम: मैं ठीक यह बात तो नहीं कहूँगा, मैं कहूँगा कि वह गलती कर सकता है।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल।
डॉ. बोम: किंतु वह उसमें अड़ा नहीं रहता। और तरह से कहें तो, एक ऐसा मनुष्य है वह, जिससे कोई गलती हुई है, तो वह उसे मानता है, उसे सुधार लेता है।

कृष्णमूर्ति: हाँ, सही है।
डॉ. बोम: और फिर वह मनुष्य भी है जो गलती करता है किंतु उसका मन सीधा-सही नहीं है और इसलिए वह गलती पर गलती करता चला जाता है। पर हमें इस प्रश्न पर वापिस लौटना है: क्या सत्य किसी मनुष्य विशेष के परे भी है? क्या उसमें अन्य मनुष्य, और साथ ही प्रकृति भी शामिल है?

कृष्णमूर्ति: उसमें वह सब शामिल है जो कुछ भी मौजूद है।
डॉ. बोम: हाँ, तो वह सत्य एक ही है। किंतु वास्तविकता के क्षेत्र में बहुत सारी अलग-अलग वस्तुएँ हैं। हरएक वस्तु प्रभावग्रस्त है, संस्कारित है, वास्तविकता का यह पूरा-का-पूरा क्षेत्र संस्कारग्रसित है। किंतु स्पष्ट है कि स्वयं सत्य को तो संस्कारित-प्रभावित नहीं किया जा सकता, अथवा वस्तुओं पर निर्भर नहीं बनाया जा सकता।

कृष्णमूर्ति: तो फिर उस मनुष्य का, जो सत्य ही है, वास्तविकता से संबंध क्या है?
डॉ. बोम: वह समस्त वस्तुओं को देखता है और ऐसा करते हुए वह वास्तविकता को व्यापक रूप से समझता है। इस क्रिया के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'कॉम्प्रिहेंड' का मतलब होता है सब कुछ एक साथ ला पाना।

कृष्णमूर्ति: वह वास्तविकता को पृथक् नहीं करता है। वह कहता है, "मैं इसे समझता हूँ, मैं इसके साथ ठहर पाता हूँ, मैं इसे देख पाता हूँ।"
डॉ. बोम: हाँ, यह सब-वह स्वयं, व अन्य सब कुछ-वास्तविकता का एक ही क्षेत्र है। किंतु इस क्षेत्र में वे वस्तुएँ शामिल हैं जो संस्कारित-प्रभावित हैं, और वह उन प्रभावों को भली-

भांति समझ पाता है।

कृष्णमूर्ति: और चूँकि वह संस्कारबद्धता को भली-भांति समझता है, वह संस्कारबद्धता से मुक्त होता है।
डॉ. बोम: अतएव यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारी सारी जानकारी, विचार पर आधारित होने के कारण, असल में वास्तविकता के इस पूरे के पूरे संस्कारग्रस्त क्षेत्र का ही एक हिस्सा है।

कृष्णमूर्ति: अब दूसरा प्रश्न। फर्ज़ करिए कि मैं कोई विद्वान हूँ, और मैं इस प्रकार के संस्कारित और साथ ही संस्कारकारी, संस्कारित करने वाले ज्ञान से भरा हूँ। तो मुझे सत्य को, सारा कुछ एक साथ सामने रख पाने वाले अर्थ में, किस तरह से समझना होगा?
डॉ. बोम: मुझे नहीं लगता कि आप सत्य को समझ सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: मान लीजिए मैंने जीवन भर अध्ययन किया है, पूरा जीवन समर्पित कर दिया है ज्ञान के लिए-ज्ञान, जो कि वास्तविकता है।
डॉ. बोम: हाँ, और उस ज्ञान में किसी ज़्यादा बड़ी वास्तविकता को जानना भी शामिल है।

कृष्णमूर्ति: और फर्ज़ करिए कि आप आ जाते हैं और कहते हैं, “सत्य कहीं और है, यह ‘वह’ नहीं है।” मैं आपकी बात स्वीकार करता हूँ, क्योंकि आप इसे मेरे समक्ष स्पष्ट कर देते हैं, और फिर मैं कहता हूँ: “कृपया यहाँ से उस तक पहुँचने में मेरी सहायता कीजिए।”
डॉ. बोम: हाँ।

कृष्णमूर्ति: क्योंकि एक बार यदि मैं उसे पा लूँ, तो उसे समझ पाऊँगा। यदि मैं यहीं बना रहता हूँ, तो मेरी समझ सदैव विखंडित रहेगी।
डॉ. बोम: हाँ।

कृष्णमूर्ति: अतः मेरा ज्ञान मुझसे कहता है, “यह वास्तविकता है, किंतु सत्य नहीं।” और फर्ज़ कीजिए आप आ जाते हैं और कहते हैं, “नहीं, सत्य नहीं है”। और मैं पूछने लगता हूँ: कृपया मुझे बताइए कि मैं यहाँ से उस तक कैसे पहुँचूँ।
डॉ. बोम: हमने अभी-अभी कहा है कि हम उस तक नहीं पहुँच सकते...

कृष्णमूर्ति: मैं संक्षेप में इसे रख रहा हूँ। मुझे करना क्या होगा?
डॉ. बोम: मेरे खयाल से मुझे यह देखना होगा कि ज्ञान का, जानकारी का यह सारा ढाँचा अनिवार्य रूप से मिथ्या है, क्योंकि मेरी वास्तविकता विकृत, टेढ़ी-मेढ़ी है।

कृष्णमूर्ति: क्या आप कहेंगे कि मेरी चेतना की अंतर्वस्तु जानकारी है?
डॉ. बोम: जी हाँ।

कृष्णमूर्ति: किस प्रकार मैं उस चेतना को रिक्त करूँ, और तो भी उस जानकारी को बनाये रखूँ जो विकृत नहीं है—अन्यथा मैं अपना कार्य ही नहीं कर पाऊँगा-और किस प्रकार उस स्थिति तक, या उसे जो भी कहें उस तक, आ पाऊँ, जो वास्तविकता को भली-भांति समझ पाएगी। पता नहीं, मैं जो कहना चाह रहा हूँ उसे ठीक से स्पष्ट कर पा रहा हूँ या नहीं।
डॉ. बोम: स्पष्ट है।

कृष्णमूर्ति: मैं जो पूछ रहा हूँ, यह है: मेरी मनुष्य चेतना वही है जो इसकी अंतर्वस्तु है जो है ज्ञान, जानकारी; यह एक अव्यवस्थित ढेर है अतर्कसंगत ज्ञान का और कुछ ऐसे ज्ञान का भी जो कि सही है। तो क्या यह चेतना सत्य को समझ सकती है या उसे अपने भीतर धारण कर सकती है?
डॉ. बोम: नहीं, यह ऐसा नहीं कर सकती।

कृष्णमूर्ति: इसलिए, क्या यह चेतना उस सत्य तक जा सकती है? ऐसा भी यह नहीं कर सकती। तब फिर हो क्या?
डॉ. बोम: इस चेतना के भीतर उस मिथ्यात्व का, वह जो सच नहीं है उसका प्रत्यक्ष बोध हो सकता है। यह चेतना मिथ्या है, इस अर्थ में कि यह सीधी-सच्ची नहीं चल रही है। अपनी भ्रमित अंतर्वस्तु की वजह से यह चेतना सीधे-सच्चे ढंग से, सम्यक् रूप से काम नहीं कर पाती है।

कृष्णमूर्ति: यह अंतर्विरोधी है।
डॉ. बोम: यह चीज़ों का घालमेल कर देती है।

कृष्णमूर्ति: "घालमेल कर देती है" नहीं; यह स्वयं एक घालमेल है।
डॉ. बोम: यह एक घालमेल ही है, हाँ, जिस तरह से यह गति करती है। और इस घालमेल की, इस अव्यवस्था की मुख्य बातों में से एक यह है कि जब चेतना स्वयं के विषय में मनन करती है तो उस मनन का स्वरूप कुछ इस प्रकार का होता है: जैसे कि कोई एक दर्पण हो और चेतना स्वयं को उस दर्पण के माध्यम से देख रही हो, और वह दर्पण चेतना को ऐसे प्रतिबिम्बित कर रहा हो जैसे कि वह चेतना न होकर अपने आप में एक स्वतंत्र वास्तविकता हो।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: तो इसलिए, चेतना जो भी कदम उठाती है वह त्रुटिपूर्ण होता है, क्योंकि वह उस स्वतंत्र-सी प्रतीत होने वाली वास्तविकता को बेहतर बनाने का प्रयास कर रही होती है, जबकि ऐसा करना दरअसल घालमेल, अव्यवस्था ही है। मैं इस बात को इस प्रकार रखना चाहूँगा: पूरी की पूरी चेतना एक तरह से एक उपकरण है जो कहीं किसी ज़्यादा गहरी ऊर्जा से जुड़ा हुआ है। और जब तक चेतना उस तरह से जुड़ी है, यह अपनी उस त्रुटिपूर्ण क्रिया

वाली अवस्था को बनाए रखती है।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: तो यह देख लेने पर कि यह चेतना त्रुटिपूर्ण ढंग से, अपने आप को विचार से स्वतंत्र सत्ता के रूप में प्रतिबिम्बित करते हुए मनन कर रही है, आवश्यकता इस बात की है कि किसी तरह से चेतना की उस ऊर्जा को विच्छिन्न, 'डिसकनेक्ट' किया जाए। इस सारी-की-सारी चेतना को उससे असंबद्ध कर लेना होगा, ताकि, अगर ऐसे कहें तो, यह चेतना बिना ऊर्जा की अवस्था में ही रहे।

कृष्णमूर्ति: आप कह रहे हैं, इसे खुराक न दें। मेरी चेतना एक घालमेल, एक अव्यवस्था है, यह भ्रमित है, अंतर्विरोधी है, वगैरह वगैरह। और इसका यह अंर्तविरोध ही, यह घालमेल ही, इसे अपनी ऊर्जा दिया करता है।
डॉ. बोम: मैं तो यह कहूँगा कि असल में ऊर्जा चेतना से नहीं आ रही है, किंतु जब तक वह ऊर्जा आ रही है, चेतना इस गड़बड़ी को जारी रखती है।

कृष्णमूर्ति: वह ऊर्जा कहाँ से आती है?
डॉ. बोम: हमें कहना होगा कि शायद वह किसी अधिक गहरे स्त्रोत से आती है।

कृष्णमूर्ति: यदि वह किसी अधिक गहरे स्त्रोत से आ रही है, तो हम देवताओं तथा बाह्य शक्ति इत्यादि के क्षेत्र में चले जाते हैं।
डॉ. बोम: नहीं, मेरा यह कहना नहीं है कि ऊर्जा किसी बाह्य शक्ति से आ रही है। मैं यह कहना अधिक पसंद करूँगा कि वह किसी अर्थ में, मुझी से आ रही है।

कृष्णमूर्ति: तब वह 'मैं' ही यह चेतना है?
डॉ. बोम: हाँ।
कृष्णमूर्ति: अतः वह अंतर्वस्तु स्वयं ही अपनी ऊर्जा उत्पन्न कर रही है। क्या आप ऐसा कहेंगे?
डॉ. बोम: किसी अर्थ में तो यह ऐसा कर रही है, किंतु पहेली यह है कि इस अंतर्वस्तु के लिए अपनी ऊर्जा का स्वयं ही निर्माण करना असम्भव-सा लगता है। यह तो ऐसा कहने की तरह है कि यह अंतर्वस्तु अपनी ऊर्जा स्वयं निर्मित करने में सक्षम है।

कृष्णमूर्ति: हकीकत यह है कि यह अंतर्वस्तु स्वयं ही अपनी ऊर्जा को निर्मित कर रही है। देखिए, मैं अंतर्विरोध में हूँ और यही अंतर्विरोध मुझे जीवंतता देता है। मेरे अंदर परस्पर-विरोधी इच्छाएँ हैं। जब मुझमें ऐसी एक-दूसरे के विरोध में खड़ी इच्छाएँ होती हैं, तो मुझमें ऊर्जा आ जाती है, मैं जूझता हूँ। इसलिए वह इच्छा ही उस ऊर्जा को रच रही है—न कि ईश्वर अथवा कोई गहनतर चीज़-है वह तब भी इच्छा ही। यह युक्ति कई लोगों ने आज़मायी है। वे

कहते हैं कि एक बाह्य शक्ति है, एक गहनतर ऊर्जा है, किंतु व्यक्ति फिर उसी पुराने क्षेत्र में लौट आता है। अब मेरे सामने यह बात स्पष्ट होती है कि अंतर्विरोध की ऊर्जा, संकल्प की, मौज-मज़े की तलाश की ऊर्जा, यानी ऊर्जा उस सब की जो मेरी चेतना की अंतर्वस्तु है—जो कि चेतना है—यह तमाम ऊर्जा इस चेतना द्वारा ही निर्मित की जा रही है। वास्तविकता यही तो है; वास्तविकता अपनी खुद की ऊर्जा निर्मित कर रही है। मैं यह कह सकता हूँ, "मैं अपनी ऊर्जा भीतरी गहराई से प्राप्त कर रहा हूँ", किंतु यह अब भी वास्तविकता ही है।
डॉ. बोम: हाँ, मान लीजिए हम इसे स्वीकार कर लेते हैं, किंतु बात यह है कि इसके सत्य को देख पाना...

कृष्णमूर्ति: ...इसी बिंदु पर मैं आना चाहता हूँ। क्या यह ऊर्जा सत्य की ऊर्जा से भिन्न है?
डॉ. बोम: हाँ।

कृष्णमूर्ति: यह भिन्न है।
डॉ. बोम: इसे हम इस तरह देखने की कोशिश करें: वास्तविकता में ऊर्जा के कई स्तर हो सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: किंतु उस ऊर्जा का कोई अंश विशेष सीधी रेखा में चलने से भटक गया है। ऐसा कहें कि मस्तिष्क सभी विचार प्रक्रियाओं को ऊर्जा से पोषित करता है। अब, यदि किसी प्रकार मस्तिष्क उस विचार प्रक्रिया को, जो भ्रमित है, ऊर्जा न दे, तो शायद वह चीज़ सीधी-सही हो जाए।

कृष्णमूर्ति: यही बात है। यदि यह ऊर्जा उस सीधे धागे की मानिंद चले तो वह ऐसी वास्तविकता है जिसमें अंतर्विरोध नहीं है। यह एक ऐसी ऊर्जा है जो अंतहीन है, क्योंकि इसमें कोई घर्षण, कोई प्रतिरोध नहीं है। तो, क्या यह ऊर्जा सत्य की ऊर्जा से भिन्न है?
डॉ. बोम: हाँ, ये भिन्न हैं, और जैसा कि पहले इस बारे में हममें विचार-विमर्श हुआ था, इनका एक और गहरा समान स्त्रोत होना चाहिए।

कृष्णमूर्ति: मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। आप यह सुझा रहे हैं कि इन दोनों का उद्भव एक ही मूल से होता है?
डॉ. बोम: यही मैं सुझा रहा हूँ। किंतु इस समय हम बात कर रहे हैं कि एक ओर तो सत्य की ऊर्जा है जो वास्तविकता को समझ सकती है, और...

कृष्णमूर्ति: ...दूसरी ओर से ऐसा नहीं किया जा सकता।
डॉ. बोम: जी, नहीं किया जा सकता; किंतु ऐसा लगता है कि इनमें कुछ संबंध है, इस अर्थ में कि जब सत्य वास्तविकता को देखता-समझता है, तो वास्तविकता की गति सीधी-सही हो

जाती है। अतः इनमें कम-से-कम एकतरफा संबंध तो प्रतीत होता ही है।

कृष्णमूर्ति: ठीक बात है, एकतरफा संबंध-सत्य को इससे प्रेम है, इसे सत्य से प्रेम नहीं है।
डॉ. बोम: किंतु एक बार जब संपर्क स्थापित हो जाता है, तब वास्तविकता की गति सीधी-सही होती है और वह ऊर्जा का अपव्यय नहीं करती, उलझन-भ्रम नहीं पैदा करती।

कृष्णमूर्ति: देखिए, यहीं पर ध्यान की बात आती है। आम तौर पर ध्यान को यहाँ से वहाँ तक पहुँचना, अभ्यास एवं इस प्रकार की अन्य बातों से संबंधित समझा जाता है। इस से उस तक गति करना।
डॉ. बोम: एक वास्तविकता से दूसरी वास्तविकता की ओर गति करना।

कृष्णमूर्ति: ठीक। जो है, उसे वस्तुतः देखना ध्यान है। किंतु आम तौर पर ध्यान का अर्थ लिया जाता है एक वास्तविकता से दूसरी वास्तविकता की ओर गति करना।

2

अंतर्दृष्टि एवं सत्य
वास्तविकता व सत्य के बीच खाई

कृष्णमूर्ति: मेरा सरोकार यह पता लगाने से है कि क्या कोई ऐसा कर्म है जो विचार की प्रक्रिया न हो, एक ऐसा कर्म जो सत्य का कर्म हो-यदि मैं इसे इस प्रकार कह सकूँ-एक ऐसी अंतर्दृष्टि जो तत्क्षण काम करे। मैं इस प्रश्न की तहकीकात करना चाहता हूँ।
डॉ. बोम: शायद एक कर्म जो तत्क्षण घटित होता है, वह है मिथ्यात्व को देखना।

कृष्णमूर्ति: हाँ। उदाहरण लाना मुश्किल होता है। जैसे कि मुझे इस तथ्य में अंतर्दृष्टि हो कि लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं—मैं यह उदाहरण के तौर पर कह रहा हूँ।
डॉ. बोम: आपकी इस अंतर्दृष्टि की प्रकृति क्या है?

कृष्णमूर्ति: इस तथ्य में अंतर्दृष्टि कि ईश्वर उनका प्रक्षेपण है।
डॉ. बोम: हाँ, और इसलिए मिथ्या है।

कृष्णमूर्ति: तो मुझे एक अंतर्दृष्टि होती है। और यदि ईश्वर में मेरा विश्वास रहा हो, तो वह उसी क्षण ध्वस्त हो जाता है। अतः यह विचार की प्रक्रिया नहीं है, यह सत्य में अंतर्दृष्टि है।
डॉ. बोम: या मिथ्यात्व में।

कृष्णमूर्ति: या मिथ्यात्व में, और वह कर्म सम्पूर्ण होता है, बात वहीं निपट जाती है, समाप्त हो जाती है। पता नहीं मैं इसे संप्रेषित कर पा रहा हूँ या नहीं: वह कर्म समग्र होता है, उसमें कोई पछतावा नहीं होता, उसमें कोई व्यक्तिगत फायदे वाला मसला, कोई भावावेश नहीं होता। यह एक ऐसा कर्म होता है जो सम्पूर्ण है, अपने आप में पूरा है; जब कि विचार से आया कर्म, यानी कि ईश्वर है या नहीं इसके विश्लेषण की माप-जोख, सदैव अपूर्ण ही होती है।
डॉ. बोम: जी, वह मैं समझ रहा हूँ। और फिर एक दूसरे प्रकार का कर्म भी है, जिसमें

आपको शब्दों का प्रयोग करना होता है, जिसमें अंतर्दृष्टि क्रियान्वित करने का जतन करते हैं; जैसे आपको ही लें, आप लोगों से वार्तालाप करते हैं। क्या वह कर्म सम्पूर्ण है या अपूर्ण? कहें कि आपने ईश्वर के संदर्भ में अन्वेषण किया। अन्य लोग अभी भी उसे तथ्य ही कह रहे हैं, और इसलिए...

कृष्णमूर्ति: किंतु वह व्यक्ति अंतर्दृष्टि से बोल रहा है।
डॉ. बोम: वह अंतर्दृष्टि से बोल रहा है, किंतु इसके साथ ही वह समय की एक प्रक्रिया भी आरम्भ करता है।

कृष्णमूर्ति: हाँ, कुछ बताने के लिए।
डॉ. बोम: बदलाव लाने के लिए। इसे स्पष्ट करने के लिए अब इस पर थोड़ा और गौर करें। इसकी शुरुआत तो अंतर्दृष्टि से हो रही है, किंतु यह सत्य को संप्रेषित कर रही है।

कृष्णमूर्ति: हाँ, किंतु शुरू यह सदैव अंतर्दृष्टि से होती है।
डॉ. बोम: और संप्रेषित करने के लिए आपको कुछ व्यवस्था तो बनानी होगी।

कृष्णमूर्ति: तर्कसंगत विचार इत्यादि की, बिलकुल। और तर्कसिद्ध विचार का कर्म अंतर्दृष्टि के कर्म से भिन्न है।
डॉ. बोम: क्या फर्क आ जाता है इसमें, जब अंतर्दृष्टि को तर्कसिद्ध विचार के द्वारा संप्रेषित किया जाता है? ईश्वर के संदर्भ में आपकी अंतर्दृष्टि वाली बात पर वापिस लौटते हैं: आपको इसे अन्य लोगों से साँझा करना होगा, एक तर्कसंगत रूप में रखना होगा इसे।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: और इसलिए जब आप इसे संप्रेषित कर रहे होते हैं, तो क्या उसमें अंतर्दृष्टि का कुछ गुणधर्म अभी भी शामिल नहीं रहता? आपको उसे संप्रेषित करने का एक तर्कसंगत तरीका ढूंढ़ लेना होता है। इसलिए ऐसा करने में, उस अंतर्दृष्टि के सत्य में से कुछ तो इस रूप में अभी भी संप्रेषित हो रहा होता है। और एक अर्थ में वह विचार ही तो है।

कृष्णमूर्ति: नहीं, जब किसी अन्य को वह अंतर्दृष्टि शब्दों के द्वारा संप्रेषित की जा रही हो, तो भी यह कार्य अधूरा ही रहेगा, जब तक कि उसे भी अंतर्दृष्टि न मिल जाए।
डॉ. बोम: यह ठीक है। तो आपको वह संप्रेषित करना होगा जो किसी को अंतर्दृष्टि दे सके।

कृष्णमूर्ति: क्या आप अंतर्दृष्टि दे सकते हैं?
डॉ. बोम: नहीं, वस्तुतः नहीं, किंतु जो कुछ भी आप संप्रेषित कर रहे होते हैं वह किसी न किसी तरह से ऐसा कुछ करने ही वाला है जिसका शायद और वर्णन नहीं किया जा सकता।

कृष्णमूर्ति: हाँ। वह तभी हो सकता है जब आप स्वयं भी ईश्वर में विश्वास को छोड़ पाये हों।

डॉ. बोम: किंतु इसकी कोई गारंटी नहीं है कि ऐसा होगा ही।

कृष्णमूर्ति: नहीं, यकीनन नहीं।
डॉ. बोम: वह तो उस अन्य व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह सुनने के लिए तत्पर है अथवा नहीं।

कृष्णमूर्ति: तो अब हम इस बिंदु पर आते हैं: क्या एक ऐसा सोचना, ऐसी 'थिंकिंग' है जो अशाब्दिक हो, जिसमें शब्द न चल रहे हों? क्या यही चीज़ है जो अंतर्दृष्टि को संप्रेषित करेगी?
डॉ. बोम: मैं कहूँगा कि एक प्रकार का सोचना है जो अंतर्दृष्टि को संप्रेषित करता है। अंतर्दृष्टि अशाब्दिक है, किंतु सोचना अपने आप में अशाब्दिक नहीं है। एक तरह का सोचना वह होता है जो शब्द द्वारा संचालित-शासित होता है, तथा फिर एक और प्रकार का सोचना होता है जिसका उपक्रम, सिलसिला, शब्द द्वारा नहीं, बल्कि अंतर्दृष्टि द्वारा निर्धारित होता है।

कृष्णमूर्ति: क्या वह अंतर्दृष्टि विचार की उपज है?
डॉ. बोम: नहीं, किंतु अंतर्दृष्टि विचार के माध्यम से काम करती है। अंतर्दृष्टि विचार की उपज कभी नहीं होती।

कृष्णमूर्ति: ज़ाहिर है।
डॉ. बोम: किंतु यह विचार के ज़रिये काम कर सकती है। मैं कहना यह चाह रहा था कि वह विचार जिसके ज़रिये अंतर्दृष्टि काम कर रही होती है उसकी व्यवस्था, उसका सिलसिला उस दूसरे किस्म के विचार से भिन्न है। मैं इन दोनों के बीच फर्क करना चाहता हूँ। आपने एक बार मिसाल दी थी कि एक ढोल अपने भीतर की रिक्तता के फलस्वरूप स्पंदन करता है। मैंने इसका यह अर्थ लगाया था कि ढोल की उस कसी हुई खाल से जो काम हो रहा है, उससे जो आवाज़ आ रही है, वह विचार की क्रिया के मानिंद है; क्या यह सही है?

कृष्णमूर्ति: हाँ, सही है यह। अब, अंतर्दृष्टि घटित कैसे होती है? क्योंकि यदि यह विचार की उपज नहीं है, तरतीब में बिठाये गये विचार की प्रक्रिया वगैरह नहीं है, तो फिर यह अंतर्दृष्टि अस्तित्व में किस तरह आती है?
डॉ. बोम: यह स्पष्ट नहीं है कि इस प्रश्न से आपका अभिप्राय क्या है।

कृष्णमूर्ति: मुझमें यह अंतर्दृष्टि आती किस तरह है कि ईश्वर हमारी अपनी इच्छाओं, छवियों इत्यादि का प्रक्षेपण है? मैं इसके मिथ्यात्व को, इसके न होने को अथवा इसकी सच्चाई को देख लेता हूँ; यह होता कैसे है?
डॉ. बोम: आपके हिसाब से इसका वर्णन कैसे हो सकता है, मैं देख नहीं पा रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति: भीतर एक एहसास है मुझे कि विचार सम्भवतः उस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर

सकता, जहाँ अंतर्दृष्टि है, सत्य है, यद्यपि यह और कहीं भी कार्य करता ही है। किंतु सत्य, वह क्षेत्र, विचार के माध्यम से कार्य करने में सक्षम है।
डॉ. बोम: हाँ।

कृष्णमूर्ति: लेकिन विचार उस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता।
डॉ. बोम: वह तो स्पष्ट है। हम कह रहे हैं कि विचार स्मृति का प्रत्युत्तर है। यह बात तो साफ नज़र आती है कि यह संस्कारमुक्त एवं स्वतंत्र नहीं हो सकता।

कृष्णमूर्ति: यदि संभव हो तो मैं इस प्रश्न की पड़ताल करना चाहूँगा: अंतर्दृष्टि कैसे घटित होती है? अगर यह विचार की प्रक्रिया नहीं है, तो क्या है उस मन का, या उस अवलोकन का गुणधर्म, उसकी खासियत, जिसमें विचार प्रवेश नहीं करता? और चूँकि विचार प्रवेश नहीं करता, आपको अंतर्दृष्टि मिल जाती है। हमने कहा था, अंतर्दृष्टि सम्पूर्ण होती है। यह उस तरह से विखंडित, टूटी-बिखरी नहीं होती है जैसे कि विचार होता है। तो विचार अंतर्दृष्टि को जन्म नहीं दे सकता।
डॉ. बोम: विचार अंतर्दृष्टि को संप्रेषित कर सकता है। यह कुछ डेटा, कुछ विवरण संप्रेषित कर सकता है जो आपको अंतर्दृष्टि की दिशा में ले जाए। मिसाल के तौर पर, लोगों ने आपको धर्म इत्यादि के बारे में बताया होता है, किंतु अंततः
अंतर्दृष्टि उस पर निर्भर करती है जो विचार नहीं है।

कृष्णमूर्ति: तो फिर वह अंतर्दृष्टि आती कैसे है? क्या यह विचार का समाप्त होना है?
डॉ. बोम: इसको एक समाप्ति के रूप में देखा जा सकता है।

कृष्णमूर्ति: विचार को खुद यह स्पष्ट एहसास होता है कि एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें वह प्रवेश नहीं कर सकता। यानी कि, विचार करने वाला ही विचार है, वही अवलोकन करने वाला, अनुभव करने वाला वगैरह तमाम कुछ है; और विचार खुद महसूस कर लेता है, इसके तईं जागरूक हो जाता है कि वह बस एक खास क्षेत्र के अंदर-अंदर ही कार्य कर सकता है।
डॉ. बोम: क्या इसके लिए भी अंतर्दृष्टि की दरकार नहीं है? इससे पहले कि विचार यह महसूस कर पाए, अंतर्दृष्टि का होना आवश्यक होगा।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल ऐसा ही है। क्या विचार को यह एहसास हो पाता है कि अंतर्दृष्टि का होना आवश्यक है?
डॉ. बोम: पता नहीं, किंतु मैं कह रहा हूँ कि इससे पहले कि विचार को कुछ भी एहसास हो पाए, विचार की प्रकृति के बारे में एक अंतर्दृष्टि का होना लाज़िमी है। क्योंकि मुझे लगता है कि विचार को खुद-ब-खुद उस तरह का कोई एहसास हो नहीं सकता।

कृष्णमूर्ति: हाँ।

डॉ. बोम: लेकिन किसी-न-किसी ढब से, सत्य विचार पर, वास्तविकता पर कार्य कर सकता है ऐसा हमने कहा था।

कृष्णमूर्ति: सत्य वास्तविकता के क्षेत्र में कार्य कर सकता है। तो, हमारा मन उस सत्य को कैसे देख पाता है? क्या यह एक प्रक्रिया है?
डॉ. बोम: आप पूछ रहे हैं कि क्या देखने की कोई प्रक्रिया होती है? प्रक्रिया तो कोई नहीं है; वह तो समय हो जाएगा।

कृष्णमूर्ति: ठीक बात है।
डॉ. बोम: हम इस बिंदु पर गौर करें, कि एक अंतर्दृष्टि घटित होती है विचार की प्रकृति के बारे में, इस बारे में कि अवलोकन करने वाला ही अवलोकन का विषय है, इत्यादि।

कृष्णमूर्ति: ठीक।
डॉ. बोम: अब किसी अर्थ में, विचार को उस अंतर्दृष्टि को स्वीकार करना होगा, उसे क्रियान्वित करना होगा, उसके लिए उपलब्ध होना होगा।

कृष्णमूर्ति: या फिर वह अंतर्दृष्टि ही इतनी सजीव, इतनी ऊर्जापूर्ण, जीवंतता से इतनी आपूरित होगी कि वह विचार को उस तरह क्रियाशील होने के लिए बाध्य कर देगी।
डॉ. बोम: ठीक; उस तरह क्रियाशील होने की ज़रूरत तो है।

कृष्णमूर्ति: जी हाँ, ज़रूरत है।
डॉ. बोम: लेकिन ऐसा है कि आम तौर से यह देखने में आता है कि उसमें उतनी जीवंतता नहीं होती। किसी न किसी अप्रत्यक्ष तरीके से विचार ने उस अंतर्दृष्टि को नामंजूर कर दिया होता है, कम से कम लगता तो ऐसा ही है।

कृष्णमूर्ति: ज़्यादातर लोगों को अंतर्दृष्टि मिलती तो है, किंतु आदत इतनी प्रबल होती है कि वे उस अंतर्दृष्टि को नामंजूर कर देते हैं।
डॉ. बोम: मैं इसकी तह में जाने की कोशिश कर रहा हूँ, यह देखने के लिए कि क्या हम इस नामंजूरी को निरस्त कर सकते हैं, उससे मुक्त हो सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: उस नामंजूरी से, उस आदत से, उस संस्कारबद्धता से मुक्त हो सकते हैं, जो अंतर्दृष्टि को होने से रोकती है। और, हालाँकि हो सकता है आपको अंतर्दृष्टि मिल भी जाए किसी बारे में, लेकिन संस्कारबद्धता इतनी प्रबल है कि आप उस अंतर्दृष्टि को नामंजूर कर देते हैं। यही तो होता है।
डॉ. बोम: मैंने शब्दकोश में आदत शब्द को देखा और वहां कहा गया है, “मन की एक दृढ़ वृत्ति” जो बहुत उपयुक्त लगता है। मन की एक नियत, बँधी-बँधायी वृत्ति है, जो परिवर्तन का प्रतिरोध करती है। अब हम लौट कर उसी प्रश्न पर आ जाते हैं—हम उस “अत्यंत दृढ़ वृत्ति”

को कैसे भंग करें?

कृष्णमूर्ति: मुझे नहीं लगता कि आप उसे तोड़ सकते हैं, मुझे नहीं लगता कि विचार उसे तोड़ सकता है।
डॉ. बोम: हमारी माँग उस सघन अंतर्दृष्टि की है जो अनिवार्य रूप से इसे विसर्जित कर दे।

कृष्णमूर्ति: सार-संक्षेप में कहें तो: किसी को सत्य और वास्तविकता के संदर्भ में एक अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है। और व्यक्ति के दिमाग का एक खास तरह का रुझान बना हुआ है, इसने वास्तविकता के संसार में आदतें बना ली हैं—यह वहीं रहता है।
डॉ. बोम: यह एकदम अनम्य है, बेलोच।

कृष्णमूर्ति: मान लीजिए आप आकर इस कठोरता, इस अनम्यता की ओर संकेत करते हैं। मुझे एक झलक मिल जाती है उसकी जो आप कह रहे होते हैं—जो सोचने की परिधि में नहीं है, 'नॉन-थिंकिंग' है—और मैं उसे देख लेता हूँ।
डॉ. बोम: बस एक झलक भर।

कृष्णमूर्ति: झलक भर। किंतु मेरी संस्कारबद्धता इतनी प्रबल है कि मैंने जो देखा है, उसे नामंजूर कर देता हूँ।
डॉ. बोम: और मैं जानबूझकर ऐसा नहीं करता हूँ; ऐसा बस हो जाता है।

कृष्णमूर्ति: वह होता इसलिए है क्योंकि आपने उसके हो जाने में सहायता की होती है। पहली बात तो यह कि क्या वह अंतर्दृष्टि, इस संस्कारबद्धता को विसर्जित करने के लिए यथेष्ट प्रबल है? यदि वह उतनी अधिक प्रबल नहीं है, तो यह सब चलता रहेगा। क्या यह संस्कारबद्धता विसर्जित हो सकती है? यह ज़रूरी है कि संस्कारबद्धता के विषय में एक अंतर्दृष्टि हो मुझे, अन्यथा मैं इसे विसर्जित नहीं कर सकता।
डॉ. बोम: शायद हम इसे इस तरह से देख सकते हैं: संस्कारबद्धता एक वास्तविकता है, एक बिलकुल ठोस वास्तविकता, जो मूलतः वही है जो हम किसी विषय में सोचते हैं।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: जैसा कि पिछले संवाद में हमने कहा था, यह यथार्थ है। सामान्यतः वास्तविकता केवल वही नहीं होती जिसके बारे में मैं सोच रहा होता हूँ, बल्कि यह कुछ हद तक यथार्थ के, असलियत के साथ भी मेल खा जाती है—असल तथ्य के साथ। यही तो उसकी वास्तविकता का प्रमाण होता है। अब, पहली नज़र में ऐसा लगता है कि यह संस्कारबद्धता और अधिक नहीं तो उतनी ठोस तो है ही, जितनी कि कोई भी वास्तविकता होती है।

कृष्णमूर्ति: कहीं अधिक ठोस। क्या यह संस्कारबद्धता 'वस्तु' के ज़रिये समाप्त होती है, विसर्जित होती है?

डॉ. बोम: उससे वैसा नहीं होगा क्योंकि वह सोचना ही तो है।

कृष्णमूर्ति: तो सोचना इसको विसर्जित नहीं करेगा। तब क्या है जो ऐसा करेगा?
डॉ. बोम: हम फिर वहीं वापस लौट आये। हम देखते हैं कि यह सिर्फ सत्य से, अंतर्दृष्टि से ही हो पाएगा।

कृष्णमूर्ति: मुझे लगता है कि कुछ घटित होता है। मैं देखता हूँ कि मैं संस्कारग्रस्त हूँ और मैं अपने आप को उस संस्कारबद्धता से पृथक् कर लेता हूँ, मैं अपने को संस्कारबद्धता से भिन्न समझ रहा होता हूँ। और आप आ कर कहते हैं, "नहीं ऐसा नहीं है, बल्कि द्रष्टा ही दृश्य है, देखने वाला ही वह है जिसे वह देख रहा है"। यदि मैं देख पाऊँ या यह अंतर्दृष्टि पा सकूँ कि द्रष्टा ही दृश्य है, तो संस्कारबद्धता विसर्जित होना शुरू हो जाती है।
डॉ. बोम: क्योंकि वह ठोस नहीं है।

कृष्णमूर्ति: उसका प्रत्यक्ष बोध ही संस्कारबद्धता की समाप्ति है। सत्य तभी अस्तित्व में आता है जब यह बोध हो जाता है कि द्रष्टा ही दृश्य है। तब उस बोध में, जो कि सत्य है, संस्कारबद्धता लुप्त हो जाती है। वह कैसे लुप्त होती है? इस संस्कारबद्धता के ढाँचे के ढहने के लिए आवश्यक क्या है?
डॉ. बोम: इसके मिथ्यात्व में, असत्यता में अंतर्दृष्टि।

कृष्णमूर्ति: किंतु मुझे किसी ऐसी चीज़ के बारे में जो मिथ्या है अंतर्दृष्टि हो सकती है, और तो भी यह हो सकता है कि मैं उसी रास्ते पर चलता रहूँ, वह जो मिथ्या है, उसे स्वीकार कर लूँ और उसी में जीता-बरतता रहूँ।
डॉ. बोम: हाँ।

कृष्णमूर्ति: पता नहीं मैं कुछ संप्रेषित कर पा रहा हूँ या नहीं। मैं इसे अपने जीवन के कर्म-व्यवहार में लाना चाहता हूँ। मैंने वास्तविकता को सत्य मान रखा है, मैं उसी में रहता हूँ—मेरे देवता, मेरी आदतें, सारा कुछ-मैं उसी में रहता हूँ। आप आकर कहते हैं, "देखिए, सत्य वास्तविकता से भिन्न है" और आप इसे मुझे अच्छी तरह समझाते हैं। मैं उस ज़बरदस्त बोझ को कैसे हटाऊँगा, या उस ज़बरदस्त संस्कारबद्धता को कैसे तोड़ूँगा? उस संस्कारबद्धता को तोड़ने के लिए मुझे ऊर्जा की दरकार है। क्या वह ऊर्जा तब आती है, जब मैं देख पाता हूँ, "द्रष्टा ही दृश्य है"? जैसा कि हमने कहा है, मैं इसकी महत्ता को देखता हूँ, युक्तिसंगत रूप से, कि इस संस्कारबद्धता का ध्वस्त होना ज़रूरी है, मैं इसकी आवश्यकता को देखता हूँ; मैं देखता हूँ कि यह कार्य कैसे करती है, वह विभाजन, वह द्वन्द्व और वह सब कुछ जो इसमें सम्मिलित है। अब जब मुझे यह एहसास हो जाता है कि द्रष्टा ही दृश्य है, देखने वाला ही देखा जा रहा है, तो एक नितान्त भिन्न प्रकार की ऊर्जा अस्तित्व में आती है। बस यही मैं कहना चाह रहा हूँ।

डॉ. बोम: हाँ, तब यह वास्तविकता की ऊर्जा नहीं है। मैं इसे बेहतर देख पाता हूँ जब मैं कहता हूँ, "विचार करने वाला ही वह विचार है"। असल में बात एक ही है।

कृष्णमूर्ति: हाँ, विचार करने वाला ही वह विचार है। अब, क्या वह ऊर्जा संस्कारबद्धता की ऊर्जा से तथा संस्कारबद्धता और वास्तविकता की गतिविधि से भिन्न है? क्या वह ऊर्जा सत्य का प्रत्यक्ष बोध है, और इसलिए उसमें एक बिलकुल ही भिन्न प्रकार की ऊर्जा की गुणवत्ता है?

डॉ. बोम: ऐसा लगता है कि इसमें संस्कारबद्धता से मुक्त होने की, उससे बँधा न होने की गुणवत्ता है।

कृष्णमूर्ति: हाँ। अब मैं इसे अपने लिए व्यावहारिक बनाना चाहता हूँ। मैं इस पूरी चीज़ को देखता हूँ जिसका आपने मेरे समक्ष वर्णन किया है। मेरे पास अच्छा-भला दिमाग है, मैं बहस कर सकता हूँ, इस चीज़ की व्याख्या, ऐसा तमाम कुछ कर सकता हूँ, किंतु फिर भी ऊर्जा की यह गुणवत्ता नहीं आ पाती है। और आप चाहते हैं, अपनी करुणा, अपनी समझ, सत्य के अपने प्रत्यक्ष बोध के कारण, कि मुझमें यह ऊर्जा हो। आप कहते हैं, "मेहरबानी करके देखिए इसे"। और मैं नहीं देख पाता, क्योंकि मेरा रहना हमेशा वास्तविकता के आयाम में ही हो रहा है। आप सत्य के आयाम में रह रहे हैं, और मैं ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ। आपके और मेरे बीच कोई संबंध नहीं है। मैं आपके शब्द को स्वीकार करता हूँ, उसकी तर्कसंगति को समझ पाता हूँ, उसकी सटीकता को, आपकी बात के यथार्थ को देख पाता हूँ, किंतु मैं इस चीज़ को ध्वस्त नहीं कर पाता।

आप कैसे मेरी सहायता करेंगे-मैं इस शब्द का प्रयोग हिचकिचाते हुए कर रहा हूँ—इसे ध्वस्त करने में, तोड़ने में आप मेरी सहायता कैसे करेंगे? यह कार्य आपका है, क्योंकि आप सत्य को देख पा रहे हैं, और मैं नहीं देख पा रहा। आप कहते हैं, "ईश्वर के वास्ते, देखिए इसको"। तो कैसे सहायता करेंगे आप मेरी? शब्दों द्वारा? तब फिर हम उसी आयाम में, उसी क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं जिससे मैं भली-भाँति परिचित हूँ। ऐसा असल में हो रहा है, आप समझ रहे हैं? तो कोई करे क्या? आप मेरे साथ क्या करेंगे, जो उस चीज़ को देखने से इनकार कर देता है जो ठीक सामने है। और आप इस तरफ संकेत कर रहे हैं कि जब तक हम वास्तविकता के इस संसार में रहेंगे, हत्याएँ, मौतें होती रहेंगी-वह सब कुछ चलता रहेगा जो यहाँ हुआ करता है। तो उस आयाम में हमारी समस्याओं में से किसी का भी उत्तर नहीं है। तो कैसे संप्रेषित करेंगे आप यह मुझे? मैं पता लगाना चाहता हूँ, मैं खूब उत्सुक हूँ, मैं इस सब से बाहर निकलना चाहता हूँ।

डॉ. बोम: केवल सघनता को, तीव्रता को ही तो संप्रेषित किया जा सकता है। हमने पहले ही उन अन्य सारे कारकों पर चर्चा कर ली है जो संप्रेषण में शामिल हैं।

कृष्णमूर्ति: देखिए, आप जो कह रहे हैं उसकी कोई प्रणाली, कोई विधि नहीं है, क्योंकि वे

सब तो संस्कारबद्धता का ही हिस्सा हैं। आप कुछ एकदम नया, अनपेक्षित कह रहे हैं, जिसके बारे में मैंने कभी पल भर भी सोच कर नहीं देखा है। आप एक भरा पिटारा लिए आते हैं और मुझे नहीं मालूम कि आपको, आप जो लाये हैं, उसे ग्रहण कैसे करूँ। यह सच में एक समस्या रही है; पैगम्बरों के लिए, हरएक...
डॉ. बोम: ऐसा लगता है कि इस काम में वस्तुतः कोई भी सफल नहीं हो पाया है।

कृष्णमूर्ति: कोई भी नहीं। हमारी शिक्षा का ही हिस्सा है यह जो हमें निरन्तर उस वास्तविकता के आयाम में ही बनाए रखता है।
डॉ. बोम: हर कोई वास्तविकता के उस क्षेत्र में ही किसी सुनिर्दिष्ट मार्ग की अपेक्षा कर रहा है।

कृष्णमूर्ति: और आप एक ऐसी ऊर्जा की बात कर रहे हैं जो वास्तविकता की ऊर्जा से सर्वथा भिन्न प्रकार की है। आपका कहना है कि वह ऊर्जा इस सब को बिलकुल पोंछ डालेगी, हालाँकि वह इस वास्तविकता का उपयोग तो करेगी।
डॉ. बोम: हाँ, वह इसके ज़रिये काम करेगी।

कृष्णमूर्ति: पर यह सब मेरे लिए शब्द के स्तर पर ही है, क्योंकि समाज, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, मेरे माता-पिता, सारा कुछ तो यहीं है, इसी वास्तविकता के क्षेत्र में। तमाम वैज्ञानिक इसी में, यहीं काम कर रहे हैं, सारे प्रोफेसर, अर्थशास्त्री, सब यहीं पर तो हैं। और आप कहते हैं "देखिए", और मैं देखने से इनकार कर देता हूँ।
डॉ. बोम: इनकार करने की ही बात नहीं है इसमें, यह शायद कहीं अधिक अचेतन स्तर पर है।

कृष्णमूर्ति: तो इस पर बात करते हुए, प्रश्न यह आता है: क्या एक ऐसा सोचना है जो वास्तविकता के इस आयाम में न हो?
डॉ. बोम: हम पूछ सकते हैं कि क्या कोई ऐसी सोच है, उस अर्थ में कि ढोल अपने भीतर की रिक्तता को प्रत्युत्तर दे रहा है।

कृष्णमूर्ति: यह उपमा सुन्दर है। चूँकि वह रिक्त है, इसलिए वह स्पंदित हो रहा है।
डॉ. बोम: वह भौतिक वस्तु उस रिक्तता के प्रति स्पंदित हो रही है।

कृष्णमूर्ति: वह भौतिक वस्तु स्पंदित हो रही है। ठहरिए; क्या सत्य न-कुछ होना है, 'नथिंगनेस' है?
डॉ. बोम: वास्तविकता कुछ वस्तु है, शायद हर वस्तु है। सत्य अ-वस्तु है, न-कुछ है। 'नथिंग' शब्द का गहरे में यही अर्थ है। तो सत्य 'अ-वस्तुत्व', 'न-कुछपन' है।

कृष्णमूर्ति: हाँ, सत्य अवस्तु है।

डॉ. बोम: क्योंकि यदि यह वास्तविकता नहीं है तो यह अवस्तु ही होगी, अ-वस्तु, 'नो थिंग'।

कृष्णमूर्ति: और इसलिए रिक्त होगी। रिक्त अर्थात... आपने एक बार इसे किस तरह बताया था?
डॉ. बोम: वह शब्द है विश्राम, सुभीता; अंग्रेज़ी शब्द 'लेश्जर' का बुनियादी तौर पर मतलब होता है रिक्त, खाली। अंग्रेज़ी के 'एम्प्टी' का जो मूल है, उसका अर्थ है जो विश्राम में हो, जो व्यस्त न हो।

कृष्णमूर्ति: तो आप मुझसे कह रहे हैं, "आपके मन का अव्यस्त होना ज़रूरी है"। इसे वास्तविकता से घिरा-भरा नहीं होना चाहिए।
डॉ. बोम: हाँ, यह स्पष्ट है।

कृष्णमूर्ति: अतः इसे रिक्त रहना होगा, इसमें कुछ भी ऐसा नहीं होना चाहिए जिसे वास्तविकता ने, सोच ने गढ़ा हो-जो वस्तु न हो। 'न-कुछ' का अर्थ यही है।
डॉ. बोम: यह बात साफ है कि वस्तुएँ, चीज़ें वे हैं जिनके बारे में हम सोचते हैं, इसलिए हमें कहना पड़ेगा कि मन किसी भी चीज़ के बारे में न सोचे।

कृष्णमूर्ति: ठीक बात है। इसका अर्थ यह हुआ कि विचार रिक्तता के बारे में नहीं सोच सकता।
डॉ. बोम: वह तो उसे वस्तु बना डालेगा।

कृष्णमूर्ति: यही बात है। अब देखिए, हिन्दू परम्परा कहती है कि आप उस तक आ सकते हैं।
डॉ. बोम: हाँ, पर कोई भी शै जिस तक आपको आना है, उसके लिए कोई मार्ग होना ज़रूरी है जिसे वास्तविकता के क्षेत्र में इंगित-निर्दिष्ट किया गया हो।

कृष्णमूर्ति: हाँ। अब मुझे इसमें एक अंतर्दृष्टि मिलती है, मैं इसे देख पाता हूँ। मैं देखता हूँ कि यह ज़रूरी है कि मेरा मन अनघिरा, अव्यस्त रहे, इसमें बाशिंदे न हों, यह एक खाली, रिक्त मकान हो। मेरे जीवन में उस रिक्तता का एक्शन क्या होगा, कर्म क्या होगा?-क्योंकि मुझे यहीं जीना है; मुझे पता नहीं क्यों, पर मुझे रहना-जीना इस जग में ही है। मैं पता लगाना चाहता हूँ, क्या वह कर्म उस इतर कर्म से, उस दूसरे कर्म से भिन्न है? उसे होना ही चाहिए, और इसलिए...
डॉ. बोम: उसे होना ही है।

कृष्णमूर्ति: और मैं अपने मन को उस अन्तर्वस्तु से, उस सामग्री से कैसे रिक्त करूँ, जिससे यह चेतना बनती है? मैं उस अन्तर्वस्तु को कैसे खाली करूँ? अन्तर्वस्तु वास्तविकता है, मेरी चेतना वास्तविकता है।

डॉ. बोम: हाँ, यह चेतना ही वास्तविकता है। यह केवल वास्तविकता की चेतना नहीं है।

कृष्णमूर्ति: नहीं, चेतना ही वास्तविकता है। और कैसे उस अन्तर्वस्तु को रिक्त किया जाए, ताकि वह चेतना अब वास्तविकता न हो-यह बात इस तरह से रखें।
डॉ. बोम: हाँ, तो अब वह अ-वस्तु, नो थिंग होगी।

कृष्णमूर्ति: इसे कैसे किया जाए?
डॉ. बोम: हम पहले ही इस 'कैसे' प्रश्न पर विचार कर चुके हैं। इस प्रश्न में ही कुछ दोष है।

कृष्णमूर्ति: निस्सन्देह, कुछ दोष है, क्योंकि उस 'कैसे' शब्द का मतलब ही वास्तविकता, विचार और वह सब है। कोई चमत्कार कीजिए!
डॉ. बोम: हमें उसी की ज़रूरत है।

कृष्णमूर्ति: कैसे आप उस व्यक्ति के जीवन में चमत्कार ला सकते हैं जो इस चेतना में, जिसमें इसकी अर्न्तवस्तु निहित है, रह रहा है? मैं यह पता लगाने की कोशिश कर रहा हूँ कि क्या कोई ऐसा एक्शन है, कर्म है जो इस समस्त अन्तर्वस्तु को विसर्जित कर देगा? चेतना वास्तविकता के अंतर्गत नहीं है, चेतना वास्तविकता ही है। मैं सोचता हूँ कि फर्क यही है।
डॉ. बोम: इसे और थोड़ा स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। आम तौर पर सोचा जाता है कि चेतना वास्तविकता को दर्शाती है। किंतु वह स्वयं ही वास्तविकता है। किसी प्रकार से हमें यह स्पष्ट करना होगा कि चेतना में विमर्श उस पर होता है जो यथार्थ है, असल में है। उदाहरण के लिए, हमारे मन में मेज़ की वास्तविकता मौजूद है और हम इसकी यथार्थ में परिणति देख सकते हैं। अतः चेतना वास्तविकता व यथार्थ का एक खास तरह का सम्मिश्रण है, जहाँ तक मैं इसे देख पा रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति: हाँ, यही बात है।
डॉ. बोम: क्या मैं इसे ऐसे रख सकता हूँ कि ज़रूरत तो इसकी बजाय हमें सत्य व यथार्थ की है। क्या मैं कह सकता हूँ कि वह रिक्तता सत्य के द्वारा यथार्थ में काम करती है, कि रिक्तता का कर्म भी यथार्थ ही है।

कृष्णमूर्ति: हाँ, किंतु रिक्तता यथार्थ पर काम करे, हम उस स्थिति में नहीं हैं। हमारा मन तो हमेशा इच्छाओं, समस्याओं, कामवासना, धन, ईश्वर, लोग क्या कहते हैं, इस सब से घिरा-भरा रहता है, यह कभी रिक्त नहीं रहता।
डॉ. बोम: जिस स्थिति में हम हैं जब हम वहाँ से शुरू करते हैं, तो इस पर विमर्श करना बहुत उपयोगी नहीं होगा कि रिक्त मन किस प्रकार काम करने वाला है, क्योंकि, जैसा कि आपने कहा, इस समय तो हमारा मन घिरा-भरा हुआ है।

कृष्णमूर्ति: देखिए ऐसा है कि आखिरकार तो व्यक्ति सम्पूर्ण सुरक्षा की तलाश में है, यही वह

चाहता है, और इस सुरक्षा को वह वास्तविकता के भीतर ही खोज रहा है। इसीलिए वह किसी भी अन्य सुरक्षा को नामंजूर कर देता है।
डॉ. बोम: जी हाँ, मैं सोचता हूँ कि एक ऐसा दृढ़ विश्वास स्थापित हो गया है कि कुल मिला कर वास्तविकता ही सब कुछ है, और बस यही वह जगह है जहाँ आप सुरक्षा हासिल कर सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: हाँ। और फर्ज़ कीजिए आप आकर कहते हैं, "देखिए, न-कुछपन में, 'नथिंगनेस' में ही सम्पूर्ण सुरक्षा है।"
डॉ. बोम: जी, इस पर चर्चा कर लें, क्योंकि पहली नज़र में तो यह कतई अविश्वसनीय लग सकता है।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल।
डॉ. बोम: कोई सवाल उठा सकता है कि न-कुछ से कुछ की उत्पत्ति कैसे मुमकिन है।

कृष्णमूर्ति: एक मिनट। मैं आपसे कहता हूँ, "कुछ न होने में सम्पूर्ण सुरक्षा तथा स्थायित्व है।" आप यह सुनते हैं और आपको एक अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है इसमें, क्योंकि आप अवधानयुक्त, 'अटैन्टिव' हैं और हमारे बीच संवाद चल रहा है। और आप कहते हैं, "ऐसा ही है।" किंतु आपका मन, जो व्यस्त है, तमाम चीज़ों से घिरा-भरा है, कहने लगता है, "भला इसका भी कुछ मतलब हुआ? बेकार की बात है।"
डॉ. बोम: शायद पहली प्रतिक्रिया वही होगी। किंतु बाद में यह कुछ इस तरह से होगी-एक तरफ तो बात मुनासिब लगती है, पर दूसरी ओर यह भी सच है कि आपको अपनी वास्तविक भौतिक आवश्यकताओं का तो ख्याल रखना ही होगा।

कृष्णमूर्ति: वह तो स्पष्ट ही है।
डॉ. बोम: पर उसमें एक द्वन्द्व उठ खड़ा होता है क्योंकि जो आप बता रहे हैं वह युक्तियुक्त प्रतीत होता है, लेकिन इससे आपकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न हल नहीं होता। इन आवश्यकताओं का खयाल रखे बिना आप सुरक्षित तो हैं नहीं।

कृष्णमूर्ति: इसीलिए वे वास्तविकता के संसार को 'माया' कहते हैं।
डॉ. बोम: वैसा क्यों है? इसका संदर्भ कैसे जोड़ रहे हैं आप?

कृष्णमूर्ति: क्योंकि उनका कहना है, रिक्तता में जीना आवश्यक है, और यदि आप वहाँ रह-जी रहे हैं, तो आप इस संसार को माया मानकर चलते हैं।
डॉ. बोम: आप कह तो सकते हैं कि यह सारा सिलसिला भ्रम है, पर तब आपको भान होगा कि आप वस्तुतः खतरे में हैं...

कृष्णमूर्ति: वह तो है।

डॉ. बोम: तो प्रतीत ऐसा होता है कि आप इस तरह के आत्मविश्वास की माँग कर रहे हैं कि वह 'नथिंगनेस', कुछ न होने की अवस्था हमारा ख्याल रखेगी, शारीरिक तौर पर तथा हर तरह से। दूसरे शब्दों में, उस न-कुछपन से, आपका कहना है, सुरक्षा आएगी।

कृष्णमूर्ति: नहीं, न-कुछपन में ही सुरक्षा है।
डॉ. बोम: और इस सुरक्षा में शारीरिक, भौतिक सुरक्षा भी शामिल है।

कृष्णमूर्ति: नहीं, मेरा कहना है, मनस् के क्षेत्र में, 'साइकलॉजिकल' सुरक्षा...
डॉ. बोम: हाँ, मगर जो प्रश्न लगभग तत्काल उभरकर आता है...

कृष्णमूर्ति: वास्तविकता के संसार में मैं कैसे सुरक्षित रहूँ?
डॉ. बोम: जी, क्योंकि कोई यह कह सकता है: मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इससे मेरे मनस् से संबंधित समस्याएँ दूर हो जाएँगी, किंतु मुझे अभी भी शारीरिक रूप से, और साथ ही वास्तविकता के संसार में भी सुरक्षित तो होना पड़ेगा।

कृष्णमूर्ति: वास्तविकता के संसार में कोई मनोवैज्ञानिक सुरक्षा नहीं है, बल्कि सिर्फ 'नथिंगनेस' में, न-कुछ होने में ही सम्पूर्ण सुरक्षा है। तो अगर ऐसा है मेरे लिए, तो वास्तविकता के संसार में मेरी सारी-की-सारी गतिविधि पूरी तरह से भिन्न होगी।
डॉ. बोम: वह मैं देख पा रहा हूँ, किंतु यह सवाल हमेशा उठने वाला है: क्या वह पर्याप्त भिन्न होगी ताकि...

कृष्णमूर्ति: जी हाँ, वह स्थिति पूरी तरह से भिन्न होगी ही, क्योंकि तब मैं राष्ट्रवादी नहीं हूँ, मैं 'अंग्रेज़' नहीं हूँ, मैं नथिंग हूँ, कुछ नहीं हूँ। अतः हमारा सारा संसार ही भिन्न है। मैं विभाजित नहीं कर रहा...
डॉ. बोम: आपके उस उदाहरण पर वापिस लौटते हैं जिसमें एक वह है जो समझ रहा है, और फिर वह है जो उस अन्य को कुछ बताना चाह रहा है। अब इसमें बस यह भरोसा संप्रेषित नहीं हो पा रहा है कि यह चीज़ उस सब का भी ख्याल रख लेगी।

कृष्णमूर्ति: यह उस सब का ख्याल नहीं रखेगी। यहाँ तो मुझे काम करना पड़ेगा।
डॉ. बोम: तो भी, आपने जो कहा, उसमें ऐसा कुछ निहितार्थ आ ही जाता है कि हम हर तरह से पूर्णतया सुरक्षित हो जाएँगे।

कृष्णमूर्ति: ऐसा ही है, बिलकुल।
डॉ. बोम: हाँ, पर हमें यह पूछना ही होगा: शारीरिक, भौतिक सुरक्षा का क्या होगा?

कृष्णमूर्ति: वास्तविकता के क्षेत्र में भौतिक सुरक्षा? वर्तमान समय में तो ऐसी कोई सुरक्षा है नहीं। तमाम ज़िंदगी मैं लड़े चला जा रहा हूँ, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक हर मोर्चे पर जूझ

ही तो रहा हूँ मैं। लेकिन अगर मैं अंदरूनी तौर पर, मानसिक तौर पर पूरी तरह से सुरक्षित हूँ, तब वास्तविकता के संसार में मेरा क्रियाकलाप समग्र प्रज्ञा से जन्म लेगा। यह स्थिति अभी अस्तित्व में नहीं है, क्योंकि जो प्रज्ञा है, वह तो समग्र का प्रत्यक्ष बोध और वह सारा कुछ है। जब तक मैं 'अंग्रेज़' या 'कुछ और' बना रहता हूँ, मुझे सुरक्षा उपलब्ध नहीं हो सकती। मुझे इस सब से छुटकारा पाने के लिए काम करना होगा।
डॉ. बोम: यह मैं समझ सकता हूँ कि आप अधिक प्रज्ञाशील हो जाएँगे, आप अधिक सुरक्षित हो जाएँगे-यकीनन। पर जब आप कहते हैं, 'संपूर्ण सुरक्षा', तो यह प्रश्न लगातार बना रहता है: क्या यह संपूर्ण है?

कृष्णमूर्ति: हाँ जी, यह संपूर्ण है, मानसिक तौर पर।
डॉ. बोम: पर यह ज़रूरी नहीं है कि भौतिक तौर पर भी ऐसा हो।

कृष्णमूर्ति: उस सम्पूर्ण सुरक्षा का वह एहसास, भीतर से, मुझसे...
डॉ. बोम: आपसे सही चीज़ करा लेता है।

कृष्णमूर्ति: सही चीज़, वास्तविकता के संसार में।
डॉ. बोम: हाँ, वह मैं देख पा रहा हूँ। यदि आप पूर्णतया प्रज्ञावान्, 'इन्टेलीजेन्ट' हों तो आप, जितना संभव हो, उतने सुरक्षित तो हो ही सकते हैं, किंतु यह गारंटी आप नहीं दे सकते कि आपके साथ कुछ गड़बड़ हो ही नहीं सकती।

कृष्णमूर्ति: नहीं, यकीनन नहीं। तो उस न-कुछ होने में, उस 'नथिंगनेस' में, मेरे मन ने जड़ें पकड़ ली हैं, या यह उसमें स्थापित हो गया है, और यह वास्तविकता के उस क्षेत्र में प्रज्ञापूर्वक काम कर रहा है। वह प्रज्ञा कहती है, "वहाँ आपको सुरक्षा नहीं मिल सकती जब तक आप ये-ये चीज़ें नहीं करते।"
डॉ. बोम: मुझे सब कुछ सही तरीके से करना है।

कृष्णमूर्ति: सब कुछ सही तरीके से, उस प्रज्ञा के अनुसार, जो सत्य की है, 'नथिंगनेस' की है।
डॉ. बोम: और बावजूद इसके, यदि आपके साथ कुछ हो भी जाता है, तब भी आप सुरक्षित ही रहते हैं।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल-यदि मेरा मकान जल कर नष्ट हो जाता है। लेकिन आप यह देखें कि सुरक्षा की तलाश हम यहाँ कर रहे हैं, वास्तविकता के इस संसार में।
डॉ. बोम: हाँ, मैं यह समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति: और इसलिए कोई सुरक्षा है नहीं।
डॉ. बोम: जब तक व्यक्ति यह महसूस करता है कि जो कुछ है बस वास्तविकता का संसार

ही है, तो उसी में खोजना पड़ेगा उसको।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: पर यह देखा जा सकता है कि वास्तविकता के संसार में सचमुच कोई सुरक्षा है नहीं। हर चीज़ उन दूसरी चीज़ों पर निर्भर है जो कि अज्ञात हैं, और सिलसिला यही है। और इसी वजह से इतना सघन भय मौजूद है।

कृष्णमूर्ति: आपने भय का ज़िक्र किया। न-कुछ होने की स्थिति में, 'नथिंगनेस' में सम्पूर्ण सुरक्षा है, अतः वहाँ कोई भय नहीं है। लेकिन भय न होने का यह जो एहसास है, इससे वास्तविकता के संसार में एक पूरी तरह से अलग किस्म की गतिविधि घटित होती है। मुझे कोई भय नहीं होता, मैं काम करता हूँ। मेरे लिए मसला अमीर या गरीब होने का नहीं है—मैं बस काम करता हूँ। और मैं काम करता हूँ, किसी अंग्रेज़, किसी जर्मन, किसी अरब के तौर पर या उस तरह की बाकी व्यर्थता को ओढ़े हुए नहीं-मैं यहाँ प्रज्ञापूर्वक काम करता हूँ। इसलिए मैं वास्तविकता के इस संसार में सुरक्षा सृजित कर रहा हूँ। समझ रहे हैं आप?
डॉ. बोम: हाँ, आप इसे उतना सुरक्षित बना रहे हैं, जितना संभवतः यह हो सकता है। जितने अधिक सुस्पष्ट एवं प्रज्ञाशील आप होंगे, उतना ही अधिक यह सुरक्षित होगा।

कृष्णमूर्ति: चूँकि आन्तरिक रूप से मैं सुरक्षित हूँ, मैं बाहरी तौर पर भी सुरक्षा सृजित कर लेता हूँ।
डॉ. बोम: जबकि दूसरी ओर, अगर मैं यह महसूस करता हूँ कि आन्तरिक रूप से मैं वास्तविकता के संसार पर निर्भर हूँ, तब मैं भीतर भी अव्यवस्थित हो जाता हूँ।

कृष्णमूर्ति: बिलकुल।
डॉ. बोम: और हर कोई यह महसूस किया करता है कि वह आन्तरिक रूप से वास्तविकता के संसार पर ही निर्भर है।

कृष्णमूर्ति: तो अगली बात यह है: आप मुझे यह बताते हैं और मैं इसे देख नहीं पाता। सम्पूर्ण आन्तरिक सुरक्षा के बारे में आप जो कह रहे हैं, मैं उसकी गहराई को, उसके असाधारण सौन्दर्य को, उस एहसास को नहीं देख-समझ पा रहा। और इस वजह से मैं कहता हूँ, "देखिए, कैसे देने वाले हैं मुझे आप इसके सौन्दर्य को?"

3

सत्य का बीज

कृष्णमूर्ति: यदि सत्य का बीज बोया गया है, तो वह निश्चित ही अंकुरित होगा, बढ़ेगा, विकसित होगा, वह अपना काम ज़रूर करेगा, उसका खुद का एक जीवन है।
डॉ. बोम: आप जो कहते हैं उसे लाखों लोगों ने पढ़ा या सुना होगा। ऐसा लग सकता है कि उनमें से एक बहुत बड़ी संख्या ने इसे समझा नहीं है। क्या आप महसूस करते हैं कि अंततः वे सभी इसे देख-समझ पाएँगे?

कृष्णमूर्ति: नहीं, लेकिन कुछ चल रहा है, वे इसके बारे में फिक्रमंद हैं, वे पूछ रहे हैं, "इस बात से वह कहना क्या चाह रहा है?" वह बीज अपना काम कर रहा है, वह उग रहा है, वह मृत नहीं है। और दूसरी तरफ, आप कुछ ऐसा कह सकते हैं जो मिथ्या है, झूठ है, और वह भी काम करना शुरू कर देता है।
डॉ. बोम: हाँ, किंतु अब इन दोनों के बीच कशमकश शुरू हो जाती है और परिणाम क्या होने वाला है इसका हम पूर्वानुमान नहीं लगा सकते; हम पक्का कुछ नहीं कह सकते कि यही परिणाम आएगा।

कृष्णमूर्ति: आप मुझमें यह बीज बोते हैं कि "सत्य एक मार्गरहित भूमि है।" और मेरी चेतना में यह बीज भी बो दिया जाता है जो कहता है, "सत्य का एक मार्ग है, मेरे पीछे आइए।" तो एक वक्तव्य मिथ्या है, एक सत्य है। ये दोनों मेरी चेतना में जैसे जड़-से दिये गये हैं। तो एक कशमकश जारी है। जो सत्य है और जो मिथ्या है, दोनों ही काम कर रहे हैं, और इस कारण और अधिक उलझन, और अधिक परेशानी व ढेर सारा दुःख-क्लेश मेरे हिस्से आ रहा है, बशर्ते कि मैं पर्याप्त संवेदनशील हूँ। अगर मैं उस दुःख-क्लेश से पलायन नहीं करता हूँ, उससे भागता नहीं हूँ, तो होता क्या है?
डॉ. बोम: अगर आप पलायन नहीं करेंगे, तब क्या होगा, वह तो स्पष्ट है। तब आपके पास ऊर्जा होगी यह देख पाने के लिए कि सत्य क्या है।

कृष्णमूर्ति: ठीक बात है।
डॉ. बोम: लेकिन अब उन लोगों की बात करें, जो पलायन किया करते हैं और उनकी संख्या काफी बड़ी मालूम पड़ती है।

कृष्णमूर्ति: उनको मत गिनिए, सही कह रहे हैं आप, ऐसे लाखों होंगे। लेकिन फिर भी, वह कशमकश तो जारी रहेगी।
डॉ. बोम: हाँ, पर इससे उलझन पैदा हो रही है।

कृष्णमूर्ति: यही तो वे सब कर रहे हैं।
डॉ. बोम: लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि इसका नतीजा क्या निकलने वाला है।

कृष्णमूर्ति: क्यों, एकदम मालूम है—तानाशाही, अध:पतन।
डॉ. बोम: जानता हूँ कि चीज़ें बदतर हो जाती हैं। पर अब हम इस बिंदु को स्पष्ट कर लेना चाहेंगे। उन थोड़े से लोगों में, जो दु:ख का सामना करते हैं, सत्य के प्रत्यक्ष बोध हेतु ऊर्जा आ जाती है। और जो लोग दु:ख से पलायन करते रहते हैं—और उनकी संख्या बहुत बड़ी है—चीज़ें बदतर होती चली जाती हैं।

कृष्णमूर्ति: और वे इस दुनिया पर हुकूमत कर रहे हैं।
डॉ. बोम: अब इससे बचाव का क्या रास्ता है?

कृष्णमूर्ति: वे कहते हैं इसका कोई समाधान है ही नहीं, बस इससे दूर हट जाइए।
डॉ. बोम: उससे भी बात बनने वाली नहीं है।

कृष्णमूर्ति: वे कहते हैं आप इस समस्या को हल नहीं कर सकते, कहीं पहाड़ों में चले जाइए, या किसी मठ में भर्ती हो जाइए, संन्यासी बन जाइए-किंतु इससे कोई हल निकलने वाला है नहीं। जो किया जा सकता है वह इतना ही है कि अपनी आवाज़ उठाते रहिए, पुकारते रहिए।
डॉ. बोम: जी हाँ, तब हमें यह तो कहना पड़ेगा कि हमें मालूम नहीं है कि उस पुकारने का नतीजा क्या निकलेगा।

कृष्णमूर्ति: यदि आप नतीजा हासिल करने की खातिर पुकारना चाहते हैं तो यह सही प्रकार का पुकारना नहीं हुआ।
डॉ. बोम: हाँ, यही स्थिति है।

कृष्णमूर्ति: आप बातचीत करते हैं, आप ध्यान दिलाते हैं। और अगर कोई ध्यान नहीं देना चाहता तो यह उनका मामला है, आप तो बस अपना काम करते जाते हैं। अब मैं थोड़ा आगे बढ़ना चाहूँगा। देखिए, एक रहस्य है; विचार उसे स्पर्श नहीं कर सकता। तो उसका मतलब ही क्या है?

डॉ. बोम: उस रहस्य का? मेरे ख्याल से आप इसे इस तरह देख सकते हैं: यदि आप विचार, तर्क इत्यादि के क्षेत्र की तहकीकात करें, तो अन्ततः आप देख पाते हैं कि इस सब की कोई मज़बूत बुनियाद नहीं है। अतः आप देखते हैं कि 'जो है', वह इस सबसे परे होना चाहिए। 'जो है' ही वह रहस्य है।

कृष्णमूर्ति: जी हाँ।
डॉ. बोम: मेरा तात्पर्य है, आप वास्तविकता व विचार के इस क्षेत्र में नहीं रह सकते, उन सब कारणों की वजह से जिनका हम ज़िक्र कर चुके हैं।

कृष्णमूर्ति: निस्सन्देह नहीं रह सकते। लेकिन मुझे फर्क नहीं पड़ता, मेरे भीतर डर नहीं हैं।
डॉ. बोम: आपको फर्क नहीं पड़ता क्योंकि आपके भीतर मानसिक सुरक्षा विद्यमान है। यदि आपके साथ कुछ घट भी जाता है तो वह आप पर गहरे में असर नहीं छोड़ेगा।

कृष्णमूर्ति: तो मैं वास्तविकता के इस क्षेत्र में रहता हूँ, यही मेरा जीवन है। यहाँ मैं चेतन रूप से जागरूक रहता हूँ, संघर्ष करता हूँ और मैं इसी क्षेत्र में कुछ करता रहता हूँ। और मैं उस अन्य को कभी भी स्पर्श नहीं कर सकता। मैं यह कह ही नहीं सकता, "मैं उसे स्पर्श कर सकता हूँ"; जब आप सच में उसे स्पर्श करते हैं, तो कोई स्पर्श करने वाला 'मैं' होता ही नहीं है।

आप मुझसे कहते हैं, "एक रहस्य है जो सारी समझ के पार जाता है।" अब चूंकि मैं वास्तविकता के क्षेत्र में फँसा हुआ हूँ, तो मैं उस रहस्य को उपलब्ध कर लेना चाहूँगा। आप कहते हैं कि एक रहस्य है, क्योंकि आपके लिए वह एक यथार्थ है, कोई ईजाद, कोई अन्धविश्वास अथवा आत्मप्रवंचना नहीं है। आपके लिए वह सत्य है। और जो आप कह रहे हैं उसका मुझ पर, आपके सच्चेपन की वजह से, ज़बरदस्त प्रभाव पड़ता है। आप उसकी ओर मेरा ध्यान दिलाते हैं, और मैं उसे पा लेना चाहता हूँ। किसी-न-किसी तरह से मुझे उसे पाना ही है। तो आपकी मेरे तईं क्या ज़िम्मेदारी बनती है?

आप स्थिति को समझ रहे हैं? आप कहते हैं, शब्द उसका स्पर्श नहीं कर सकते, विचार उसका स्पर्श नहीं कर सकता, कोई भी कर्म, कोई 'एक्शन' उसका स्पर्श नहीं कर सकता, सिवाय सत्य के 'एक्शन' के कुछ भी नहीं; वही संभवतः आपको उसका एक एहसास दे सके। अब चूँकि मैं एक दुखित इनसान हूँ, उसमें से कुछ तो पा लेना चाहूँगा। पर आप कहते हैं, "सत्य एक मार्गरहित भूमि है, किसी का अनुसरण मत करिए"-और मैं पीछे छूट जाता हूँ।

मैं इसे स्पष्टतः महसूस करता हूँ, मुझे विचार की सीमा का, इस तमाम उलझन का, दुर्दशा का, इस सब का सचेत तौर पर एहसास है। पर कुछ है कि मैं इससे बाहर नहीं निकल पा रहा। क्या आपकी करुणा मेरी सहायता करने वाली है? आप करुणावान् हैं, क्योंकि करुणा

उस असाधारण रहस्य का एक भाग है। तो क्या आपकी करुणा मेरी सहायता करेगी?-ज़ाहिर है: नहीं।

तो मैं करूँ क्या? उस अवस्था को हासिल कर लेने की इच्छा हावी है मुझ पर, और आप कहते हैं, “कोई इच्छा मत करिए, आप उसे हासिल नहीं कर सकते, वह आपकी निजी जायदाद नहीं है।” आपका कहना बस इतना है: वास्तविकता के क्षेत्र में व्यवस्था ले आइए।
डॉ. बोम: हाँ, और दु:ख से पलायन मत कीजिए।

कृष्णमूर्ति: यदि आप वास्तविकता के क्षेत्र में व्यवस्था ले आते हैं, तो कुछ घटित होगा। और आप मुझसे यह भी कहते हैं कि इसे तत्काल किया जाना चाहिए।

क्या वह रहस्य ऐसा है जो हर किसी को मालूम है?-मालूम इस अर्थ में कि कुछ है जो रहस्यमय है। हम उस इच्छा की बात नहीं कर रहे जो रहस्य रच लिया करती है, पर कुछ तो रहस्यमय है जीवन में, मेरे दु:ख के अलावा, मेरी मृत्यु, मेरी ईर्ष्या, मेरी चिन्ता के अलावा। इस सब के होते हुए भी, एक एहसास की मौजूदगी है कि कोई विराट रहस्य है जीवन में। क्या ऐसा है; कि कोई रहस्य है जिसे हममें से हर एक जानता है?
डॉ. बोम: मैं सोच रहा हूँ कि एक लिहाज़ से हर कोई इसे जानता है। शायद इनसान का जन्म ही इस एहसास के साथ होता है, पर संस्कारबद्धता के, ‘कंडीशनिंग’ के चलते धीरे-धीरे यह धुँधला पड़ता जाता है।

कृष्णमूर्ति: और क्या उसमें वह सजीवता है, अथवा तीव्रता है कि वह उस सारी चीज़ को अलग हटा दे। आप देख रहे हैं, इसका अर्थ हो जाएगा, “ईश्वर आपके भीतर है”-यही इसका खतरा है।
डॉ. बोम: बिलकुल ऐसा तो नहीं, पर इसका एक तरह से संकेत-सा मिलता है। मेरे ख्याल से बच्चे जब छोटे होते हैं तब उन्हें यह संकेत अधिक मज़बूती से मिल पाता है।

कृष्णमूर्ति: क्या आप सोचते हैं कि आजकल के बच्चों के साथ भी ऐसा होता है?
डॉ. बोम: उनके बारे में मुझे पता नहीं, शायद कम होता हो। यह तो है कि किसी आधुनिक शहर में रहने का बुरा असर तो पड़ता ही है।

कृष्णमूर्ति: यकीनन।
डॉ. बोम: बहुत सारे कारण हैं। एक तो है प्रकृति से सम्पर्क का अभाव। मुझे लगता है कि प्रकृति से कैसा भी सम्पर्क रहस्य का वह एहसास लाता है।

कृष्णमूर्ति: हाँ।
डॉ. बोम: मिसाल के तौर पर, जब आप रात को आकाश की ओर देखते हैं।

कृष्णमूर्ति: पर आप देखिए, वैज्ञानिक लोग उन तारों की व्याख्या कर रहे हैं।
डॉ. बोम: हाँ, वह मैं समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति: कोस्तौ समंदर की व्याख्या कर रहे हैं; हर एक चीज़ का विवरण दिया जा रहा है।
डॉ. बोम: हाँ, एक ऐसी भावना पैदा कर दी गयी है कि सिद्धांततः हम सब कुछ जान सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: इसलिए ज्ञान अभिशाप बन रहा है। आप देखें, प्रत्यक्ष बोध का ज्ञान से कुछ लेना-देना नहीं है। सत्य और ज्ञान साथ-साथ नहीं चलते; ज्ञान अपने भीतर रहस्य की विराटता को नहीं समा सकता।
डॉ. बोम: हाँ, मैं सोचता हूँ कि अगर हम एक छोटे बच्चे को लें, तो वह किसी-न-किसी ऐसी जगह रहस्य को ले आएगा जिसके बारे में वह जानता नहीं है। वह उसे महसूस करेगा महासागर की तह में, या बाहर कहीं, जहाँ वह खुद है उससे बहुत दूर, और तब उसे पता चलता है कि लोग तो हर जगह पहुँच चुके हैं। इस प्रकार, उस सारी-की-सारी चीज़ का, उस रहस्य का वजूद ही नहीं है, आभास यह दिया जा रहा है।

कृष्णमूर्ति: हाँ। हर चीज़ इस कदर सतही बन कर रह जाती है।
डॉ. बोम: हमारे इस आधुनिक युग का खतरा यही है कि यह ऐसा आभास देता है कि हम कमोबेश सब कुछ जानते हैं। इस पूरी संरचना की हमारे सामने कम से कम एक सामान्य तस्वीर तो है ही, भले ही उसके ब्यौरे हमारी जानकारी में न हों।

कृष्णमूर्ति: उस रात मैं ब्रनॉव्स्की की 'दि असेन्ट ऑव मैन' (मानव का उत्थान) सुन रहा था। वह हर चीज़ की व्याख्या कर देते हैं।
डॉ. बोम: मूल प्रेरणा रहस्य के अन्दर प्रवेश करने की थी, विज्ञान की प्रेरणा यही थी। पर किसी तरह विज्ञान उससे भटक गया है। यह अब वर्णन-व्याख्या का आभास देने लगा है।

कृष्णमूर्ति: क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि एक प्रशिक्षित वैज्ञानिक के तौर पर, क्या आपको इस रहस्य का कुछ इशारा मिलता है?
डॉ. बोम: हाँ, मुझे ऐसा लगता है। लेकिन यह भी है कि थोड़ा-बहुत तो यह हमेशा मेरे साथ रहा है।

कृष्णमूर्ति: पर अभी बात करते हुए, क्या आपको इसकी और भी तीव्रता महसूस होती है? इसलिए नहीं कि मैं यह तीव्रता महसूस कर रहा हूँ, वह तो एक बिलकुल अलग बात हो जाएगी, तब वह प्रभाव और वह सब हो जाता है। किंतु किसी चीज़ के बारे में बात करते हुए हम एक द्वार खोलते हैं।
डॉ. बोम: हाँ। मैं सोचता हूँ कि मेरी जो खास संस्कारबद्धता है, रहस्य के इस भाव का

प्रतिरोध करने में उसका भी बहुत बड़ा हाथ है, हालाँकि मेरे ख्याल से विज्ञान इस समय एक गलत दिशा में जा रहा है।

कृष्णमूर्ति: पर वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि कोई रहस्य तो है।
डॉ. बोम: हाँ, किसी हद तक। लेकिन आम धारणा यह है कि अंततः उस रहस्य को सुलझा लिया जाएगा।

कृष्णमूर्ति: सुलझा लिया जाएगा, यानी उसकी व्याख्या कर दी जाएगी।
डॉ. बोम: मुझे ऐसा लगता है कि हर वैज्ञानिक व्याख्या विशेष, वास्तविकता के इस क्षेत्र का एक हिस्सा ही होगी, और इसलिए वह उस रहस्य से पर्दा नहीं उठा पाएगी।

कृष्णमूर्ति: नहीं, लेकिन एक हिसाब से वह पर्दा हटाती है क्योंकि मैं आपको हर चीज़ की व्याख्या करते हुए सुनता हूँ, और तब मैं कहता हूँ, "रहस्य वाली कोई बात नहीं है।"
डॉ. बोम: सत्य और वास्तविकता के बीच अंतर स्पष्ट करने की दृष्टि से यही मुख्य बिंदु है, क्योंकि हम कह सकते हैं कि वास्तविकता के क्षेत्र में, मोटे-तौर पर, हम अंतहीन व्याख्या करते रह सकते हैं।

कृष्णमूर्ति: यही तो आजकल के साम्यवादी कर रहे हैं।
डॉ. बोम: सिर्फ साम्यवादी ही नहीं।

कृष्णमूर्ति: ज़ाहिर है; उन्हें तो मैं एक मिसाल के तौर पर ले रहा हूँ।
डॉ. बोम: मेरे ख्याल से, आप कह सकते हैं, वास्तविकता के क्षेत्र में किसी भी चीज़ की व्याख्या की जा सकती है, हम उसकी और अधिक गहराई तथा व्यापकता के साथ पड़ताल कर सकते हैं, निस्सीम प्रगति संभव है। पर जो सार है, उसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

कृष्णमूर्ति: नहीं, मैं एक अलग सवाल पूछ रहा हूँ, मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि क्या, इस तरह से बातचीत करने पर, आपको उस रहस्य का इशारा मिलता है? एक वैज्ञानिक, एक गंभीर मनुष्य होने के नाते, सम्भवतः बहुत पहले ही आपको इसका इशारा मिला होगा। किंतु इस समय बात करते हुए क्या आपको ऐसा नहीं महसूस होता कि अब यह सिर्फ इशारा नहीं है, बल्कि सत्य है?
डॉ. बोम: हाँ, यह एक सत्य है।

कृष्णमूर्ति: अतः अब यह सिर्फ एक इशारा नहीं रहा?
डॉ. बोम: मेरे ख्याल से कुछ समय से अब यह एक सत्य है। क्योंकि हम जो यहाँ ब्रॉकवुड में कर रहे हैं, उसमे यह अंतर्निहित है।

कृष्णमूर्ति: हाँ। आप देखिए इसमें एक ध्यान देने लायक बात है: उस रहस्य का सत्य मन को

पूर्णतया रिक्त कर देता है, है न?-यह पूर्णतया मौन हो जाता है। या, चूँकि यह मौन है, उस रहस्य का सत्य विद्यमान होता है।

पता नहीं मैं कुछ संप्रेषित कर पा रहा हूँ या नहीं। जब मन पूरी तरह से मौन है, प्रयुक्त नहीं हो रहा है, ध्यान करने में मशगूल नहीं है, और चूँकि यह वास्तविकता के अंतर्गत व्यवस्था ले आया है, यह उस उलझन से, उस कन्फ्यूजन से मुक्त होता है, एक तरह के मौन की उपस्थिति होती है, और मन परे हट रहा होता है भ्रम-उलझन से। और यह एहसास हो पाना कि यह वस्तुतः मौन नहीं है, और उस एहसास से दूर नहीं हटना, बल्कि उसके साथ ठहरना; इसका अभिप्राय हुआ उसको नकारना जिसे व्यवस्था ने निर्मित किया है।
डॉ. बोम: आपका कहना है, पहले व्यवस्था निर्मित करें। ऐसा क्यों आवश्यक है कि पहले व्यवस्था निर्मित हो, और फिर उसे नकारा जाए?

कृष्णमूर्ति: नकारना ही मौन है।
डॉ. बोम: इसलिए इसे इसी क्रम में घटित होना है।

कृष्णमूर्ति: क्योंकि जब मैं अव्यवस्था को हटा देता हूँ, तो एक किस्म की गणितीय व्यवस्था आती है, और उस व्यवस्था के परिणामस्वरूप मेरा मन मौन हो जाता है।
डॉ. बोम: और आप कहते हैं कि यह सच्चा मौन नहीं है।

कृष्णमूर्ति: नहीं है। तो यह महसूस करते हुए कि यह सच्चा मौन नहीं है, मैं उस मिथ्या मौन को नकार देता हूँ, उस पल के लिए। और उस मौन के नकार से मैं किसी और मौन की चाहना नहीं कर रहा हूँ; किसी वृहत्तर मौन की दिशा में कोई गति नहीं हो रही है। तब, यह सम्पूर्ण मौन द्वार खोल देता है उसकी ओर। यानी कि, जब यह मन, तमाम उलझन समेत, न-कुछ, 'नथिंग' होता है—कोई 'थिंग', कोई वस्तु नहीं होता-तब संभवतः वह अन्य विद्यमान होता है।

भाग 2

वार्ताएँ और संवाद

(ब्रॉकवुड पार्क, 1975 की वार्ताओं, संवादों से)

4

सही कर्म

> "आप वास्तविकता में से होकर सत्य तक नहीं पहुँच सकते। आपको सीमाएँ समझनी होंगी वास्तविकता की, जो विचार की पूरी प्रक्रिया है।"

जो कुछ संसार में हो रहा है, ज़रूरी है कि उसके साथ हम सब का गहरा सरोकार हो-यह विघटन, यह हिंसा, यह नृशंसता, ये युद्ध, तथा उच्च राजनीतिक हलकों में फैली यह बेईमानी। इस विघटन के, इस बिखराव के चलते, सम्यक् कर्म, सही कर्म क्या होगा? आज़ादी से जीवित रहने के लिए तथा पूरी तरह से धार्मिक होने के लिए व्यक्ति को करना क्या होगा? हम 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग दकियानूसी मायने में नहीं कर रहे हैं, जो कि धार्मिक है ही नहीं। इस शब्द के मायने हैं: समस्त ऊर्जा को एकत्रित करना यह पता लगाने के लिए कि विचार की जगह क्या है तथा इसकी सीमाएँ कहाँ हैं, और विचार के परे जाना। 'धार्मिक' शब्द का यही वास्तविक अर्थ एवं आशय है। तो हमें करना क्या होगा, इस विघटित हो रहे, भ्रष्ट, नैतिकतारहित संसार में, एक मनुष्य होने के नाते-एक व्यक्ति के नाते नहीं, क्योंकि व्यक्ति जैसा कुछ है ही नहीं-हम मनुष्य हैं, हम सामूहिक मौजूदगी हैं, व्यक्ति नहीं, विविध सामूहिक प्रभावों, ताकतों, संस्कारबद्धता आदि का परिणाम हैं हम। एक मनुष्य के नाते हमें क्या करना है, चाहे हम इस देश में रहते हों या अमेरिका में, या रूस में, या भारत में, जो खतरनाक वक्त से गुज़र रहा है? ठीक-ठीक, सही कर्म क्या है? इसे पता लगाने के लिए, यदि आप ज़रा भी संजीदा हैं तो-और मैं आशा करता हूँ कि यहाँ हम सब संजीदा हैं, क्योंकि अन्यथा आप यहाँ आये ही न होते-हमें करना क्या होगा? क्या कोई ऐसा कर्म है जो सम्पूर्ण हो, समग्र हो, जो विखंडित न हो, जो सही होने के साथ-साथ सटीक भी हो, जो करुणापूर्ण हो, धार्मिक हो उस अर्थ में जिसमें हम इस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं? और इसका विश्वास, रूढ़ि, रस्मो-रिवाज़, या किसी खास किस्म की धार्मिक जिज्ञासा के संस्कारों से कुछ भी मतलब नहीं है। तो उस मनुष्य को, जिसके सामने यह समस्या उपस्थित है, करना क्या होगा?

इसका उत्तर-कोई काल्पनिक, मनगढ़ंत या दिखावटी उत्तर नहीं, बल्कि सच्चा, सही उत्तर-खोजने के लिए हमें विचार की पूरी की पूरी गतिविधि की पड़ताल करनी होगी। क्योंकि हमारी सारी संस्कारबद्धता, हमारा सारा क्रियाकलाप, हमारा समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक जीवन विचार पर आधारित है। जीवन के सभी क्षेत्रों में, धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर क्षेत्र में, और व्यक्तिगत संबंधों के बीच भी, विचार ही हमारा प्रमुख उपकरण है। मेरे ख्याल से यह बात पर्याप्त स्पष्ट है। इजाज़त हो तो मैं आपको ध्यान दिला दूँ कि हम इस विषय की जाँच-पड़ताल साथ-साथ कर रहे हैं, हमारी इसमें भागीदारी है, और आपका दायित्व है इसमें सहभागी होने का; मसला कुछ विचारों को महज़ सुन लेने और उनसे सहमत या असहमत हो जाने का नहीं, बल्कि सहभागिता का, 'शेयर' करने का है, जिसका अर्थ है कि आपको इस पर ध्यान देना होगा, इसे अपनी 'अटेन्शन' देनी होगी, परवाह देनी होगी, यह समस्या ऐसी होनी चाहिए आपके लिए, जो आपके दिमाग को, दिल को, आपके सारे जीवन को छू रही हो-नहीं तो मिलना नहीं हो पाएगा, कोई संवाद नहीं हो पाएगा सिवाय शाब्दिक या बौद्धिक स्तर पर, और तब इस सब का कुछ मोल नहीं होगा। तो हम साथ-साथ तहकीकात कर रहे हैं इस प्रश्न की।

विचार का दायित्व क्या बनता है?-अपनी परिमितता को, सीमा को जानते हुए, और यह समझते हुए कि यह जो कुछ भी करता है वह एक सीमित क्षेत्र में ही होता है, और उस दायरे के अंदर क्या सही-सटीक प्रत्युत्तर एवं कर्म भला संभव है? एक मनुष्य के नाते, किस स्तर पर हम अपने आप यह पता लगाते हैं कि सम्यक्, सही कर्म क्या है? यदि वह काल्पनिक है, व्यक्तिगत है या फिर किसी विचार, धारणा अथवा आदर्श पर आधारित है, तो वह सही कर्म नहीं रहता। मुझे उम्मीद है कि हम एक-दूसरे को समझ पा रहे हैं। वह आदर्श, वह निष्कर्ष, विचार की-जो समय और मापन के घेरे में कार्यरत है—गति ही तो है। और यह विचार ही है जिसने हमारी सारी समस्याओं को ला खड़ा किया है; हमारे व्यक्तिगत संबंधों में, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, इन सभी स्तरों पर, विचार कोई जवाब ढूंढ़ नहीं पाया है। और यदि हो सके तो आज प्रातः-और आगामी दो या तीन वार्ताओं में-हम यह पता लगाने का जतन करने जा रहे हैं कि वह कर्म क्या है जो समग्र है, परंपराश्रित नहीं है, अयांत्रिक है यानी आदतन नहीं हुआ करता, और जो निष्कर्ष, आस्था-विश्वास या पूर्वाग्रह भी नहीं है। तात्पर्य यह कि मैं पता लगाना चाहता हूँ, अगर मैं थोड़ा भी संजीदा हूँ, कि मुझे किस प्रकार कर्म करना है—एक ऐसा कर्म जिसमें कोई आडंबर न हो, कोई खेद न हो, ऐसा कर्म जो आगे और समस्याएँ पैदा न करे, ऐसा कर्म जो समग्र हो, संपूर्ण हो, जो हर मसले का जवाब दे पाए, वह मसला चाहे निजी हो या एकदम जटिल सामाजिक स्तर का हो। उम्मीद है आप समझ रहे हैं कि यह समस्या आपकी है। जब तक हम इसे पूरी गहराई से हल न कर लें, ध्यान के बारे में अथवा ईश्वर क्या है, सत्य क्या है और इस प्रकार की बाकी बातों पर चर्चा करने का कोई औचित्य नहीं है। नींव तो डालनी ही होगी, अन्यथा बहुत दूर तक नहीं जाया जा सकता। दूर जाना हो तो शुरुआत जितना संभव हो सके उतने निकट से करनी होगी, और वह निकटता आप स्वयं हैं, एक मनुष्य के नाते, जो इस विकराल, भ्रष्ट समाज में रह-जी

रहा है। और आपको यह अपने आप पता लगाना है कि वह कर्म क्या है जो समग्र हो, अविखंडित हो, बँटा-टूटा न हो, क्योंकि यह संसार, जीवन जीने के लिहाज़ से और-और ज़्यादा खतरनाक होता जा रहा है, यह एक रेगिस्तान बनता जा रहा है, और हममें से हर एक को इस रेगिस्तान में एक नखलिस्तान, एक मरु-उद्यान बनना है। ऐसा करने के लिए, किसी अलग-थलग मौजूदगी को नहीं बल्कि एक संपूर्ण मानवीय मौजूदगी को अस्तित्व में लाने के लिए, हमें कर्म की, 'एक्शन' की समस्या का अन्वेषण करना होगा।

क्या विचार हमारी समस्याओं को हल कर सकता है, विचार जो कि स्मृति, अनुभव तथा ज्ञान से आ रहा जवाब है? स्मृति एक पदार्थगत, मैटीरियल प्रक्रिया है; विचार पदार्थगत एवं रासायनिक है—वैज्ञानिक इस संदर्भ में सहमत हैं। और विचार ने संसार में और हममें जिन वस्तुओं को रचा है, वे ही वास्तविकता का संसार, वस्तुओं का संसार हैं। वास्तविकता का अर्थ है, वह वस्तु जिसका अस्तित्व है। और यह खोजने के लिए कि सत्य क्या है, यह ज़रूरी है कि हममें इस बारे में एकदम स्पष्टता हो कि वास्तविकता की सीमाएँ कहाँ हैं, और हम इसे उस संसार में अतिक्रमण न करने दें, जो वस्तुगत, 'रीयल' नहीं है।

जैसा कि हम संसार में और अपने भीतर देखते हैं कि विचार ने अस्तित्व की एक ऐसी समस्या को जन्म दिया है जो असामान्य रूप से जटिल है। विचार ने 'मैं' और 'आप' का केंद्र बना दिया है। और उसी केंद्र से हम कार्य करते हैं। कृपया इसे देखें, इसका अवलोकन करें, आप इसे अपने आप ही देख-समझ लेंगे; आप किसी ऐसी चीज़ को स्वीकार नहीं किए ले रहे हैं जिसके बारे में यह वक्ता बात कर रहा है; कुछ भी स्वीकार न करें। यह जान लीजिए कि जब हम हर चीज़ पर संदेह करते हैं, तब उस संदेह से, उस अनिश्चितता से निश्चितता का, सुस्पष्टता का जन्म होता है; किंतु यदि आप शुरुआत ही कल्पना से, विश्वास से करते हैं, और उसी क्षेत्र के भीतर बने रहते हैं, तो अंत में हमेशा आप खुद को संदेह की गिरफ्त में पाएँगे। यहाँ हम तहकीकात करने का, खोजबीन करने का जतन कर रहे हैं, उन चीज़ों को तवज्जो दे रहे हैं जो हमारे बहुत करीब हैं: हमारी यह रोज़मर्रा की ज़िंदगी, अपनी तमाम दुर्दशा, द्वन्द्व, पीड़ा, दु:ख, प्रेम व चिंता, लोभ, ईर्ष्या वगैरह समेत।

जैसा कि हमने कहा, विचार ने ही 'मैं' की रचना की है, और चूँकि विचार स्वयं खंडित है, यह 'मैं' को भी एक खंड का रूप दे देता है। जब आप कहते हैं, 'मैं', 'मुझे', 'मुझे चाहिए, मुझे नहीं चाहिए, मैं यह हूँ, मैं वह नहीं हूँ', यह सब विचार का ही परिणाम तो है। और खंडित होने की वजह से विचार कभी भी समग्र नहीं होता, इसलिए जो भी इसने रचा है, वह भी खंडित ही बन जाता है। 'मेरा संसार', 'मेरा धर्म', 'मेरा विश्वास', 'मेरा ईश्वर' और आपके वाला, तो यह सब खंडित बन जाया करता है। विचार कुदरतन ही समय की, मापन की एक प्रक्रिया है, और इसलिए वह खंडित है, टुकड़ों में है। आप इसे देख पा रहे हैं अथवा नहीं? अगर आप एक मर्तबा भी इसे बिलकुल स्पष्ट तौर पर देख पाएँ, तो हम यह पता लगाने में

सक्षम होंगे कि कर्म क्या है, 'एक्शन' क्या है, एक सही, सटीक कर्म जिसमें कल्पना की, दिखावे की कोई जगह नहीं है, जो और कुछ नहीं अपितु यथार्थ है, 'ऐक्चुअल' है।

हम यह पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि वह कर्म क्या है जो समग्र है, जो खंडित नहीं है, जो समय की हलचल के भीतर कैद नहीं है, जो पारंपरिक नहीं है और इसलिए यांत्रिक नहीं है। हम एक द्वन्द्वरहित जीवन जीना चाहते हैं, एक ऐसे समाज में रहना चाहते हैं जो स्वतंत्रता को नष्ट न करता हो, तो भी कायम रह सके रहों। जैसे-जैसे पूरी दुनिया में समाज और शासन अधिकाधिक केंद्रीकृत, अधिकाधिक नौकरशाही-संचालित होते जा रहे हैं, हमारी स्वतंत्रता कम से कमतर होती जा रही है। स्वतंत्रता यह नहीं है कि हमें जो करना पसंद है, हम जो करना चाहते हैं सो करें, यह स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता का तो पूरी तरह से अलग ही अर्थ है। इसका अर्थ है इस लगातार संग्राम, लगातार चिंता, अनिश्चितता, दुःख, पीड़ा और उन तमाम चीज़ों से स्वतंत्रता, जिनकी विचार ने हमारे भीतर रचना की है।

तो क्या ऐसा कोई कर्म है जो स्मृति की इस यांत्रिक प्रक्रिया पर, किसी अनुभव की पुनरावृत्ति पर, अतएव अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप में समय की गति की निरंतरता पर आधारित नहीं है? क्या ऐसा कोई कर्म है, 'एक्शन' है जो परिस्थिति-परिवेश द्वारा संस्कारित नहीं है? आपको मालूम ही है मार्क्सवादी कहते हैं कि यदि आप परिवेश को, माहौल को नियंत्रित कर लें, तो आप मनुष्य को बदल देंगे, और इसे आज़माया जा चुका है और मनुष्य फिर भी बदला नहीं है। अब भी मनुष्य वैसा ही है, आदिम, घटिया, क्रूर, पाशविक, हिंसक और बाकी सब, हालांकि परिवेश को उन्होंने नियंत्रित कर रखा है। और फिर वे लोग भी हैं जिनका कहना है कि परिवेश की फिक्र मत कीजिए, अपितु किसी दिव्यता पर विश्वास रखिए, और उसी से आपको पथप्रदर्शन मिलेगा, किंतु वह दिव्यता तो विचार का ही प्रक्षेपण है। तो हम वापस उसी क्षेत्र में लौट आते हैं। यह सारा कुछ महसूस करते हुए, मनुष्य करे तो क्या करे?

क्या विचार, जो कि एक पदार्थगत, एक रासायनिक प्रक्रिया, एक वस्तु है, जिसने इस सारे ढाँचे का निर्माण किया है, क्या वही विचार हमारी समस्याओं का समाधान कर सकता है? हमें बहुत सावधानी से, मेहनत से यह पता लगाना होगा कि विचार की सीमाएँ क्या हैं। और क्या ऐसा हो सकता है कि विचार को स्वयं अपनी सीमा का एहसास हो जाए और इसलिए वह उस आयाम में न छलके, जिसे विचार कभी छू ही नहीं सकता। विचार ने प्रौद्योगिकी के संसार का निर्माण किया है, एवं 'आप' और 'मैं' के बीच विभाजन भी विचार ने ही रचा है। विचार ने ही आपकी छवि तथा इस 'मैं' की छवि भी बनायी है, और ये छवियां हमें एक-दूसरे से अलग करती हैं। विचार केवल द्वैत में, विपरीतों के मध्य ही कार्य कर सकता है, और इसलिए समस्त प्रतिक्रिया एक विभाजक प्रक्रिया है, अलग कर देने वाली प्रक्रिया है। और विचार ने मनुष्यों के बीच विभाजन की सृष्टि की है, राष्ट्रीयताएँ, धार्मिक आस्थाएँ, रूढ़ियाँ, राजनीतिक मतभेद, सम्मतियाँ, निष्कर्ष, ये सभी विचार के ही परिणाम हैं। विचार ने आपके और मेरे बीच रूप और नाम पर आधारित विभाजन स्थापित किया है; और विचार ने ही उस

केंद्र का भी निर्माण किया है जो 'मैं' है, आपके विरोध में, और इसलिए आपके और मेरे बीच एक विभाजन है। विचार ने सामाजिक व्यवहार की इस समस्त संरचना को रूप दिया है जो तत्त्वतः परम्परा पर आधारित है, जो कि यांत्रिक है, मशीनी है। इस धार्मिक संसार की रचना भी विचार ने ही की है—ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान, उनके बीच की सारी फूट, उनके सारे दस्तूर, और वे अनगिनत गुरु जो कुकुरमुत्तों की मानिंद उगते-फैलते जाते हैं। और विचार ने उसे भी जन्म दिया है जिसे यह प्रेम मानता है। क्या करुणा इस 'प्रेम' का परिणाम है, विचार का परिणाम है? यह हमारी समस्या है, ये सब हमारी समस्याएँ हैं।

तो भी हम इन सभी समस्याओं का हल विचार के माध्यम से निकालने का प्रयास किया करते हैं। क्या विचार अपने आप को एक उपद्रवी तत्त्व के तौर पर देख सकता है, और साथ ही अपने आप को एक ऐसे समाज के-जो अनैतिक न हो-निर्माण हेतु आवश्यक उपकरण के रूप में भी देख सकता है? क्या विचार खुद के प्रति सजग हो सकता है? कृपया ध्यान दीजिए इस चीज़ पर। क्या आपका विचार अपने आप के तईं सचेत हो सकता है? और यदि यह होता है, तो क्या वह चेतना विचार का हिस्सा है? आप विचार की गतिविधियों के प्रति सजग हो सकते हैं, और आप उन गतिविधियों में से अच्छी और बुरी, फायदेमंद और गैर-फायदेमंद के तौर पर चुन सकते हैं, पर यह चुनाव अब भी विचार का ही परिणाम है। और इसलिए यह द्वन्द्व और द्वैत को कायम रखता है। क्या विचार अपनी खुद की हलचल के प्रति सावधान, 'अटैन्टिव' हो सकता है? या फिर, क्या विचार के क्षेत्र के बाहर कोई ऐसी सत्ता है जो विचार को निर्देशित करती है? मैं यह कह सकता हूँ कि मैं अपने विचारों के प्रति सजग हूँ, मैं जानता हूँ कि मैं क्या सोच रहा हूँ, किंतु जो सत्ता यह कह रही है, "मैं जानता हूँ मैं क्या सोच रहा हूँ", उसका वह 'मैं' विचार की ही उपज है। और वह सत्ता तब उस सोचने को नियंत्रित करना, उसे वश में करना या तर्कसंगत बनाना शुरू कर देती है। तो हम कहने लगते हैं कि कोई एक सत्ता है जो विचार से भिन्न है; किंतु गौर से देखें तो बुनियादी तौर पर वह सत्ता विचार ही है। हम यहाँ यह स्पष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं: विचार बहुत ही सीमित है, यह हर प्रकार की चाल खेला करता है, यह कल्पना कर लेता है, यह किसी पराचेतना, 'सुपर-कॉन्शस' को रच लेता है—किंतु तब भी यह होता तो विचार ही है।

तो हमारी समस्या तब यह होती है: क्या विचार स्वयं ही यह महसूस कर सकता है कि कहाँ इसके लिए सक्रिय होना अनिवार्य है, कहाँ यह अपनी क्रिया में सही-सटीक हो सकता है, और फिर भी प्रत्येक अन्य दिशा में यह पूरी तरह सीमित ही हुआ करता है। तात्पर्य यह कि अब हमारे लिए मानव चेतना के प्रश्न में पैठना ज़रूरी है। यह बहुत दार्शनिक, बहुत जटिल जान पड़ता है, किंतु ऐसा है नहीं। 'फिलॉसफी' शब्द का अर्थ है सत्य से प्रेम, शब्दों से नहीं, धारणाओं से नहीं, अटकलबाजी से नहीं, अपितु सत्य से प्रेम। और इसका अर्थ है कि आपको स्वयं पता लगाना होगा कि वास्तविकता का क्षेत्र कहाँ तक है, और यह भी कि यह वास्तविकता सत्य नहीं बन सकती। आप वास्तविकता में से होकर सत्य तक नहीं पहुँच सकते। आपको सीमाएँ समझनी होंगी वास्तविकता की, जो विचार की पूरी प्रक्रिया है। जब

आप स्वयं की तहकीकात करते हैं, अपनी चेतना को जानते-समझते हुए, कि क्यों आप सोचते हैं, आपके प्रयोजन क्या हैं, उद्देश्य क्या हैं, आपके विश्वास, आपकी मंशा, आपके दिखावे, आपकी कल्पनाएँ क्या हैं, तो यह सब ही आपकी चेतना होती है; और यह चेतना तत्त्वतः विश्व की चेतना ही है। गौर कीजिए इस बात पर। आपकी चेतना किसी मुसलमान की, हिन्दू की या किसी भी अन्य की चेतना से जड़-मूल से भिन्न नहीं है, क्योंकि आपकी चेतना भी चिन्ता, आशा, भय, सुखेच्छा, दुःख, लोभ, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा से अटी पड़ी है; यही तो है चेतना। आपके विश्वास और आपके ईश्वर, सारा कुछ इस चेतना में है। उसी की अन्तर्वस्तु से आपकी चेतना का गठन होता है, और उसकी अन्तर्वस्तु है विचार। विचार, जिसने चेतना को अपनी बनायी वस्तुओं से भर रखा है। अपने भीतर गौर कीजिए, और आपको दिख जाएगा कि यह बात किस कदर सीधी-साफ है।

और इस अन्तर्वस्तु के द्वारा, जो संस्कारित है, जो परम्परा है, जो विचार का परिणाम है, हम उस क्षेत्र के भीतर, कर्म करने का ढंग खोजने की कोशिश कर रहे हैं—चेतना के उस क्षेत्र के भीतर, जिसे विचार ने, विचार की वस्तुओं से भरा हुआ है। तो पूछने वाली बात यह है: यदि विचार हमारी सारी मानवीय समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता-सिवा तकनीकी अथवा गणितीय समस्याओं के-तो ऐसा कैसे हो कि यह अपने आप को सीमा में रखे, और मनस् के क्षेत्र में, 'स्पिरिट' (आत्मा) के क्षेत्र में-फिलहाल हम इस शब्द का प्रयोग कर सकते हैं—प्रवेश ही न करे? जब तक हम उस क्षेत्र में प्रविष्ट होते, बरतते रहते हैं, हमें हमेशा दुःख भोगना होगा, हमेशा अव्यवस्था बनी रहेगी, हमेशा भय बना रहेगा, चिन्ता रहेगी। अतः मेरा प्रश्न है: क्या मैं, क्या मनुष्य वास्तविकता के संसार में व्यवस्था ला सकता है? और जब विचार वास्तविकता के संसार में व्यवस्था स्थापित कर लेगा, तभी उसे एहसास हो पाएगा कि उसकी कितनी ज़बरदस्त सीमाएँ हैं। आप यह चीज़ समझ पा रहे हैं? हम अव्यवस्था के संसार में रहते हैं, केवल बाहरी तौर पर ही नहीं, बल्कि आन्तरिक रूप से भी। और हम इस अव्यवस्था का समाधान नहीं कर पाये हैं। हम हर चीज़ आज़माते रहते हैं—ध्यान, ड्रग्स, सत्ता-प्रामाण्य को स्वीकार करना, सत्ता-प्रामाण्य को नकारना, स्वतंत्रता की खोज, स्वतंत्रता का निषेध-जो कुछ सम्भव था हम वह सब कर चुके हैं व्यवस्था लाने की खातिर, दबाव के ज़रिये, डर के ज़रिये; लेकिन जी हम अब भी अव्यवस्था में ही रहे हैं। और एक अव्यवस्थित मन अब यह पता लगाने की चेष्टा कर रहा है कि क्या कोई सही कर्म होता है—आप समझे? एक अव्यवस्थित मन पता लगाने की चेष्टा कर रहा है कि क्या कोई ठीक, सही, सटीक कर्म है। और, यह कोई ऐसा कर्म खोज निकालेगा जो सही नहीं है, गड़बड़ है, समग्र नहीं है। अतः वास्तविकता के इस संसार में, जिसमें हम जी रहे हैं, हमें व्यवस्था लानी होगी। यह देख पा रहे हैं आप?

व्यवस्था सत्ता-प्रामाण्य को, अथॉरिटी को स्वीकार करना नहीं है। यह भी व्यवस्था नहीं है कि जैसा हम चाहें वैसा किया करें। व्यवस्था किसी खाके के मुताबिक नहीं हुआ करती। व्यवस्था एक ऐसी स्थिति ही तो होगी जो नितांत गणितीय हो, और सबसे बड़ी गणितीय व्यवस्था है

अव्यवस्था का पूरी तरह से नकार, और इसे घटित होना होता है अपने भीतर, मनुष्य के भीतर। क्या आप अपनी अव्यवस्था को, अपने 'डिसॉर्डर' को देख सकते हैं, इसके प्रति सजग हो सकते हैं, अव्यवस्था के किन्हीं खास प्रकारों को चुन कर उनमें से कुछ को स्वीकार करते तथा अन्य को नकारते हुए नहीं, बल्कि समग्र अव्यवस्था को एक साथ देख सकते हैं? अव्यवस्था में निहित है द्वन्द्व, आत्मकेन्द्रित गतिविधि, किसी निष्कर्ष को स्वीकृति और उस निष्कर्ष के अनुसार जीना, कोई आदर्श और उस आदर्श का यथार्थ को अस्वीकृत करता अनुसरण; क्या आप उस सब को पूरी तरह से नकार सकते हैं? केवल तभी, जब आप उस सब को पूरी तरह से नकार देते हैं, व्यवस्था अस्तित्व में आती है, वह व्यवस्था जो वास्तविकता के संसार में विचार द्वारा नहीं रची गयी है। आप समझ रहे हैं? हम वास्तविकता और सत्य को जुदा अर्थों में ले रहे हैं। हम कह रहे हैं कि वास्तविकता वह सब कुछ है जिसे विचार ने रचा है; और उस आयाम में, उस क्षेत्र में कुल जमा अव्यवस्था है, तकनीकी के संसार को छोड़ कर। उस क्षेत्र में मनुष्य प्राणी मुकम्मल अव्यवस्था में रहते हैं, और जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, यह अव्यवस्था द्वन्द्व, सुख की दौड़, भय, दु:ख और ऐसी ही चीज़ों द्वारा लायी गयी है। क्या आप उस सब के प्रति सजग हो सकते हैं और उसे पूरी तरह नकार सकते हैं—उससे दूर हट सकते हैं? ऐसा होने पर, वास्तविकता के संसार में व्यवस्था का आगमन होता है।

वास्तविकता के उस संसार में, व्यवहार, आचरण एक पूरी तरह से भिन्न घटना है; जब आपने उस सब को नकार दिया होता है, उस 'मैं' को नकार दिया होता है जो विचार की उपज है, जो विभाजन उत्पन्न करता है, वह विचार जिसने 'मैं' और उस पराचेतना को, तमाम कल्पनाओं को, छलावों को, चिन्ताओं को, स्वीकृति और अस्वीकृति को रचा-गढ़ा है। यही तो वह अन्तर्वस्तु, वह सामग्री है जो इतनी परम्परागत है; इस परम्परा को नकारना ही व्यवस्था लाना है। तभी हम इस प्रश्न में प्रवेश कर सकते हैं कि सत्य क्या है, उससे पहले नहीं; नहीं तो यह दिखावटी, पाखंडपूर्ण, बेतुकी बात हो जाती है। उसमें हमें भय के समूचे प्रश्न को समझना होगा कि किस तरह मनुष्य प्राणी भय में जी रहे हैं, और वह भय अब अधिकाधिक तीव्र होता जा रहा है, क्योंकि यह दुनिया इस कदर खतरनाक जगह बनती जा रही है, जहाँ निरंकुशता बढ़ रही है, राजनीतिक निरंकुशता, नौकरशाही की निरंकुशता, जिसके चलते मन से समझने की, अन्वेषण की स्वतंत्रता छिनती जा रही है।

तो क्या हम, मनुष्य प्राणियों के तौर पर, इस अस्त-व्यस्त, टूटती-बिखरती दुनिया में, जो एक रेगिस्तान बनती जा रही है, वस्तुतः एक नखलिस्तान, 'ओएसिस' बन सकते हैं—सिद्धान्त अथवा कल्पना में नहीं, बल्कि सचमुच? यह वाकई एक बहुत संजीदा प्रश्न है। और क्या हम मनुष्य लोग अपने आप को पूर्णतया अलग तरह से शिक्षित कर सकते हैं? हम ऐसा तभी कर सकते हैं, जब हम समय के रूप में विचार की प्रकृति और गतिविधि को समझें, जिसका अर्थ हुआ मनुष्य के तौर पर खुद को वास्तव में समझना; अपने आप को देखना, किसी मनोवैज्ञानिक के अनुसार नहीं, अपितु अपने आप को ठीक वैसा देखना जैसे कि वस्तुतः हम

हैं, और पता लगाना, महसूस करना कि कितना अव्यवस्थित जीवन हम जी रहे हैं—एक अनिश्चितता का जीवन, पीड़ा का जीवन, निष्कर्षों, विश्वासों, स्मृतियों पर आश्रित जीवन। और इसके प्रति सजग होना; तब वह सजगता ही इस सब को पोंछ डालती है।

इस सुबह के बाकी वक्त में, क्या हम साथ-साथ, प्रश्नों तथा जाँच-पड़ताल के माध्यम से, उस विषय पर चर्चा कर सकते हैं जिस पर अभी हमने बात की है? देखिए, आप ये प्रश्न मुझसे, इस वक्ता से नहीं पूछ रहे हैं। हम प्रश्न स्वयं से पूछ रहे हैं, बोलकर व्यक्त कर रहे हैं उन्हें, ताकि हम सब इसमें सहभागी हो सकें; क्योंकि जो समस्या आपकी है, वह हर किसी की भी है। आपकी समस्या इस संसार की समस्या है, आप यह संसार ही हैं। मुझे नहीं लगता कि हम इसे वाकई महसूस कर पाते हैं। आप सच में ही यह संसार हैं, गहनतम सार-सत्त्व के तल पर-आपके तौर-तरीके, आपका पहनावा, आपका नाम और रूप भिन्न हो सकते हैं—किंतु सार रूप से, भीतर कहीं गहराई में-आप यह संसार ही हैं। अतः यदि आप कोई प्रश्न पूछते हैं, तो आप उसे समस्त मनुष्य-जाति की तरफ से पूछ रहे होते हैं। आप देख रहे हैं इस चीज़ को?-इसका मतलब यह नहीं है कि आप प्रश्न ही न पूछें, बल्कि प्रश्न तो ज़रूर पूछना है। पर प्रश्न करना तब एक बहुत संजीदा मसला बन जाता है। उथली लफ्फाज़ी वाले प्रश्न और उत्तर नहीं, कि कोई क्षणिक प्रश्न पूछ लिया और फिर अगले दिन भूल-भाल गये। पूछना है, तो ऐसा प्रश्न पूछिए जो सच में मनुष्य की समस्या से जुड़ा हो।

प्रश्नकर्ता: क्या आपने ऐसा कहा है कि परम्पराओं की अव्यवस्था से हट जाने पर ही हम व्यवस्था सृजित करते हैं? क्या आपका आशय यही था?
कृष्णमूर्ति: हाँ, मेरा यही आशय था। पर ज़रा एक मिनट, इसमें काफी-कुछ स्पष्ट करने की ज़रूरत है कि परम्परा से आपका अभिप्राय क्या है, हट जाने से आपका अभिप्राय क्या है, और व्यवस्था से आपका अभिप्राय क्या है?

प्रश्नकर्ता: उस प्रश्न में यह भी जोड़ लें कि इस अव्यवस्था को देखने में यह पहले से ही निहित है कि 'देखने वाला' जा चुका है, कि आप दूर हट चुके हैं?
कृष्णमूर्ति: इसमें तीन चीज़ें शामिल हैं: व्यवस्था, हट जाना, और अव्यवस्था का अवलोकन। अव्यवस्था से परे हटना, उससे परे होने की क्रिया ही, व्यवस्था है। अब पहली बात तो यह कि आप अव्यवस्था का अवलोकन कैसे करते हैं? आप स्वयं में इस अव्यवस्था को देखते कैसे हैं? क्या आप इसको एक बाहरी शख्स के तौर पर देख रहे हैं, ऐसा कुछ जो इससे पृथक् है, और इस तरह एक विभाजन मौजूद है; एक तो आप हैं, और एक वह चीज़ है जिसे आप देख रहे हैं? अथवा, अगर मैं पूछ सकूँ तो, क्या आप इसका अवलोकन, किसी बाहरी शख्स की तरह नहीं कर रहे, बल्कि आप इसे देख रहे हैं बिना उस बाहरी शख्स के, बिना उस अवलोकनकर्ता के जो कह रहा हो, "मैं अव्यवस्थित हूँ।" आइए इस बात को दूसरी तरह से रखते हैं। जब आप किसी चीज़ को देखते हैं, उन पेड़ों को और उस मकान को, तब आपके, तथा उस पेड़ और उस मकान के बीच खाली जगह होती है, 'स्पेस' होता है। वह

खाली जगह दूरी है, और कुछ भी देख पाने के लिए, अवलोकन के लिए, एक दूरी का होना आवश्यक है। यदि आप एकदम पास में हों, तो आपको पूरी चीज़ नज़र नहीं आ सकती। अतः यदि आप एक अवलोकनकर्ता हैं जो अव्यवस्था को देख रहा है, तो आपके और उस अव्यवस्था के बीच एक स्पेस है, खाली जगह है। तब फिर यह समस्या उठ खड़ी होती है कि उस दूरी को कैसे तय करें, उस अव्यवस्था को नियंत्रित कैसे करें, उस अव्यवस्था को बुद्धिसंगत कैसे बनाएँ, उसका दमन, या जो कुछ भी उसके साथ करना हो, कैसे करें। किंतु यदि बीच में कोई खाली जगह, कोई स्पेस है ही नहीं, तब तो फिर वह अव्यवस्था आप ही हैं। आप यह समझ रहे हैं क्या?

प्रश्नकर्ता: मैं उससे हट कैसे सकता हूँ?
कृष्णमूर्ति: मैं आपको यही दिखाने जा रहा हूँ; मैं इस चीज़ की पड़ताल करने जा रहा हूँ। पर क्या आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं?

जब आप अपनी पत्नी को, अपने पति को, उस लड़के या उस लड़की को-आजकल ये लोग विवाह नहीं किया करते-या अपने मित्र को देखते हैं, तो आप उसको देखते कैसे हैं? इस पर गौर कीजिए। इसकी तह में जाइए, बात बहुत सरल है। क्या आप सीधे-सीधे, प्रत्यक्षतः देखते हैं, या फिर आप उस व्यक्ति को उसकी छवि के ज़रिये, किसी पर्दे में से होकर, एक दूरी से देखते हैं? ज़ाहिर है, अगर आप किसी के साथ कुछ समय तक रह चुके हैं—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप एक दिन साथ रहे हों या दस साल-तो एक छवि, एक दूरी मौजूद होती है। आप उस शख्स से पृथक्, अलग होते हैं। और जब आप अव्यवस्था का अवलोकन करते हैं, तब आपके मन में व्यवस्था क्या है इसकी एक छवि मौजूद होती है; या एक ऐसी छवि होती है जो कहती है, “यह अव्यवस्था घिनौनी है”। अतः आप उस अव्यवस्था को एक दूरी से देख रहे होते हैं, दूरी जो कि समय है, परम्परा है, अतीत है। और क्या उस दूरी को विचार ने गढ़ा है? या, उस दूरी का सच में कोई वजूद है? जब आप कहते हैं, “मैं गुस्से में हूँ”, तो क्या वह गुस्सा आपसे अलग है? नहीं है; तो वह गुस्सा आप ही हैं। आप अव्यवस्थित हैं: ऐसा नहीं है कि आप अव्यवस्था से जुदा हैं। मेरे ख्याल में अब यह स्पष्ट है।

तो आप ही वह अव्यवस्था हैं। कोई भी गतिविधि-कृपया इसे समझें-विचार की कोई भी हलचल जो उस अव्यवस्था से परे गति कर रही हो, अब भी अव्यवस्था ही है। क्योंकि उस अव्यवस्था को विचार ने ही निर्मित किया है। वह अव्यवस्था आपके आत्मकेंद्रित क्रियाकलाप का परिणाम है, वह केंद्र जो कहा करता है, “मैं किसी अन्य से भिन्न हूँ”, वगैरह। इस सब से ही तो अव्यवस्था उपजती है। तो अब क्या आप, बिना उस अवलोकनकर्ता के, इस अव्यवस्था का अवलोकन कर सकते हैं, इसे देख सकते हैं?

प्रश्नकर्ता: तब आप उसे अपने अन्दर पाएँगे, जिसकी आप अन्यों में आलोचना कर रहे हैं?

कृष्णमूर्ति: नहीं, नहीं। मैं अन्यों की आलोचना करने के बारे में बात नहीं कर रहा हूँ। अन्यों की आलोचना करना, उसका कुछ खास मतलब नहीं है।

प्रश्नकर्ता: नहीं, जो आप किसी अन्य में पाएँगे, वह आपको स्वयं में भी मिल जाएगा।
कृष्णमूर्ति: नहीं, मैडम। वह अन्य मैं ही तो हूँ; बुनियादी तौर पर, वह अन्य मैं ही हूँ। उसकी अपनी चिन्ताएँ हैं, अपने भय हैं, अपनी आशाएँ, अपनी हताशाएँ हैं, अपना दुःख, अपनी पीड़ा, अपना अकेलापन, अपनी दुर्दशा है, प्रेम का अभाव है, और इस तरह की बाकी चीज़ें हैं; वह पुरुष या वह स्त्री मैं ही हूँ। यदि यह बात साफ-स्पष्ट है तो मैं अन्यों की आलोचना नहीं करता हूँ, बल्कि मुझे अन्यों में खुद के होने का भान रहता है।

प्रश्नकर्ता: मेरा यही तात्पर्य था।
कृष्णमूर्ति: अच्छी बात है। तो क्या कोई ऐसा अवलोकन होता है जो अतीत से रहित हो, अतीत जो कि अवलोकनकर्ता है, देखने वाला है? क्या आप मुझे, या किसी अन्य को देख सकते हैं, बिना उन सारी स्मृतियों के, बिना उस सारे छल-प्रपंच और चलन में आईं चीज़ों के- बस देख भर सकते हैं? क्या आप अपने पति को, या अपनी पत्नी को, या जो भी हो उसे, बिना किसी छवि के देख सकते हैं? क्या आप किसी और को देख सकते हैं, तमाम अतीत के दिमाग में उभरे बिना? आप ऐसा करते हैं, जब कोई विकट संकट उपस्थित होता है। जब कोई ज़बरदस्त चुनौती सामने आती है, तब ज़रूर आप इस प्रकार देखते हैं। लेकिन यों हम कतई लापरवाह ज़िंदगी जीते हैं, संजीदगी नहीं है हममें, काम नहीं करते हैं।

प्रश्नकर्ता: आप स्थायी रूप से संकट की अवस्था में कैसे रह सकते हैं?
कृष्णमूर्ति: मैं इस प्रश्न का उत्तर दूँगा, सर, पहले हम इसे पूरा कर लें।

तो उससे परे हट जाना, यानी जिसका आप अवलोकन कर रहे हैं, जिसे आप देख रहे हैं, उसमें पूरी तरह से भागीदार होना। और जब मैं इस अव्यवस्था का अवलोकन करता हूँ, उन तमाम प्रतिक्रियाओं, उन यादों के बगैर, उन चीज़ों के बगैर जो किसी मन में सहसा प्रकट हो जाया करती हैं, तब उस सम्पूर्ण अवलोकन में...वह सम्पूर्ण अवलोकन ही व्यवस्था है। समझ पा रहे हैं आप इसे? और यहाँ यह प्रश्न उठता है, क्या आपने कभी किसी चीज़ को पूरी तरह से देखा है? क्या आपने अपने राजनेताओं को, अपने धार्मिक विश्वासों, अपने निष्कर्षों, इस पूरी की पूरी चीज़ को जिस पर हम जीते हैं, जो कि विचार है, क्या आपने इसे कभी सम्पूर्णता से देखा है? और इसे सम्पूर्ण रूप से देखने का अर्थ है, आपके, और जो आप देख रहे हैं, उनके बीच किसी विभाजन का न होना। मैं किसी पर्वत को और उसके सौन्दर्य को, उसकी आकार-रेखा को, उसकी परछाइयों, उसकी गहनता को, गरिमा को, उसके अद्भुत एकांत और उस एकांत की शोभा को देख सकता हूँ, और यह देखना उससे तादात्म्य की, एकीकरण की प्रक्रिया नहीं है। मैं वह पर्वत नहीं बन सकता, शुक्र है! वह तो कल्पना का करतब हो जाएगा। किंतु जब मैं बिना 'पर्वत' शब्द के उसका अवलोकन करता हूँ, तब मैं

देखता हूँ कि मुझे उस सौन्दर्य का पूर्णतः प्रत्यक्ष बोध हो पाता है। और उससे एक 'पैशन' का, आवेग का एहसास जन्म लेता है। और क्या मैं किसी अन्य को, अपनी पत्नी को, मित्र को, बच्चे को, वह जो भी हो उसको, इस प्रकार देख सकता हूँ, पूर्णतः अवलोकन कर सकता हूँ उसका? मतलब यह कि, क्या मैं बिना अवलोकनकर्ता के, जो अतीत है, अवलोकन कर सकता हूँ? जिसका अर्थ हुआ कि अवलोकन में 'टोटल परसेप्शन', सम्पूर्ण प्रत्यक्ष बोध निहित है। और बस वह बोध विद्यमान होता है, कोई बोध करने वाला होता ही नहीं वहाँ। तब व्यवस्था मौजूद होती है।

प्रश्नकर्ता: यदि केवल प्रत्यक्ष बोध होता है और बोध करने वाला नहीं होता, तो वह कौन है जो देखता है? यदि मैं देखता हूँ कि मैं अव्यवस्था हूँ, तो वह क्या है जो इसे देख रहा है?
कृष्णमूर्ति: इसकी गहराई में उतरिए, सर। अव्यवस्था एक व्यापक शब्द है, आइए इसे देखें। जब आप देखते हैं कि आप हिंसक हैं और वह हिंसा आपसे भिन्न नहीं है, बल्कि आप ही वह हिंसा हैं, तब क्या घटित होता है? इसे एक और तरह से देखें।

तब क्या होता है जब आप हिंसा नहीं होते हैं? आप कहते हैं कि हिंसा 'मैं-मेरे' से भिन्न है, तब क्या होता है? उसमें एक विभाजन मौजूद होता है, उसमें हिंसा को नियंत्रित करने का प्रयास हो रहा होता है, उसमें अहिंसा की एक अवस्था का, उसके आदर्श का प्रक्षेपण हो रहा होता है, और उसके अनुपालन-अनुसरण की बात आती है; एवं इसलिए और द्वन्द्व पैदा होता है, इत्यादि। अतः जब अवलोकन करने वाले तथा अवलोकन के विषय के बीच विभाजन होता है, तो अलग-अलग किस्मों और शक्लों में लगातार द्वन्द्व का सिलसिला बढ़ता जाता है। लेकिन जब अवलोकनकर्ता ही वह होता है जिसका अवलोकन किया जा रहा है, जब द्रष्टा ही दृश्य होता है, तात्पर्य यह कि जब द्रष्टा, अवलोकनकर्ता कहता है, "मैं हिंसक हूँ, यह हिंसा मुझ से जुदा नहीं है", तब एक पूर्णतः अलग तरह की गतिविधि घटित होती है। उसमें कोई द्वन्द्व नहीं होता, कोई औचित्य-स्थापना, 'रैशनलाइज़ेशन' की प्रक्रिया नहीं होती, कोई दमन, नियन्त्राण नहीं होता, आदर्श के रूप में अहिंसा भी वहाँ नहीं होती: आप ही तो हिंसा हैं। तब क्या होता है? पता नहीं आपने कभी इस प्रश्न की छानबीन की है या नहीं।

प्रश्नकर्ता: तब यह 'आप' क्या है? बिना 'आप' के तो कोई बात ही नहीं कर सकता।
कृष्णमूर्ति: नहीं, मैडम, यह तो अभिव्यक्ति का एक तरीका है। कृपया देखिए इसे। आपको अवलोकन करने वाले और जिसका अवलोकन किया जा रहा है उनके बीच अंतर दीख पड़ता है। जब अवलोकनकर्ता और अवलोकन के विषय के बीच अंतर होता है तब अलग-अलग रूपों में द्वन्द्व होता ही है, क्योंकि एक विभाजन हुआ होता है। जब राजनीतिक विभाजन होता है, जब राष्ट्रीय विभाजन होता है, तब द्वन्द्व का होना लाज़िमी है; जैसा कि संसार में इस समय हो रहा है। जहाँ विभाजन होगा वहाँ द्वन्द्व होगा ही; यह नियम है। और जब देखने वाला ही देखने का विषय होता है, जब हिंसा उस देखने वाले से पृथक् नहीं होती, तब एक पूर्णतः भिन्न प्रकार का कर्म घटित होता है। 'हिंसा' शब्द पहले से ही निंदात्मक है;

यह एक शब्द है जिसका प्रयोग हम हिंसा को और मज़बूत बनाने के लिए करते हैं, भले ही हम ऐसा चाहते न हों, पर इस शब्द का प्रयोग करके हम उसे और ज़्यादा मज़बूत बना देते हैं, है कि नहीं? तो उस भावना को नाम देना हमारी परम्परा का हिस्सा है। यदि आप उसे नाम न दें, तो एक बिलकुल अलग तरह की प्रतिक्रिया होती है। और, चूंकि आप उसे नाम नहीं देते हैं, चूंकि जो देखा जा रहा है उससे अलग कोई देखने वाला नहीं होता है, तो वह भावना जो उठा करती है, जिसे आप हिंसा कहते हैं, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। आप करके देखिए और आपको इसकी सत्यता का पता चल जाएगा। और आप ऐसा तभी कर पाएंगे, जब आप इसका परीक्षण करेंगे, इसे आज़माएँगे। किंतु सिर्फ सहमत हो जाना इसे आज़माना नहीं है। आपको करके देखना और पता लगाना होगा।

अगला प्रश्न चुनौती के बारे में था। क्या हमारे लिए हमेशा चुनौती की अवस्था में रहना ज़रूरी है?

प्रश्नकर्ता: मैंने कहा था, संकट।
कृष्णमूर्ति: संकट, वह एक ही बात है। क्या आप संकट की अवस्था में नहीं रह रहे हैं? इस देश में एक राजनीतिक संकट है, एक आर्थिक संकट है, आप अपनी पत्नी या आपके पति के साथ संकट की स्थिति में हैं; संकट का अर्थ है विभाजन, नहीं क्या? मतलब कि ज़ाहिरा तौर पर, उन लोगों के लिए संकट एक अनिवार्यता बन जाता है, जो अंधकार में जीते हैं, जो सोये हुए हैं। अगर कोई 'क्राइसिस', कोई संकट न हो, तो आप सब सो ही जाएँगे। और यही तो हम चाहते हैं—"ईश्वर के वास्ते, मुझे यों ही रहने दो!"-अपने छोटे से पोखर या जो भी हो उसमें लोट लगाने के लिए। किंतु संकट तो हर घड़ी आया करता है।

तो अब एक कहीं अधिक गहरा प्रश्न उठता है: क्या बगैर किसी भी संकट के जीना और तो भी पूरी तरह जागे रहना सम्भव है? आप समझ रहे हैं? संकट, चुनौती, आघात, क्षोभ, इनकी मौजूदगी तभी होती है, जब मन सुस्त, परंपराधीन, दोहराव भरा, अस्पष्ट होता है। क्या मन पूरी तरह साफ-स्पष्ट हो सकता है, और इस वजह से ऐसे मन के लिए कोई चुनौती होती ही नहीं? क्या यह संभव है?

इसका अर्थ है, हमें अभी और भी गहराई में जाना है। अपने मन में बदलाव लाने के लिए, उसे आगे बढ़ाने के लिए, उसे विस्तार देने के लिए हम अनुभव पर निर्भर रहते हैं; हम सोचते हैं कि अनुभव से ही स्पष्टता के द्वार खुलेंगे, उसका सृजन होगा। और हम यह भी सोचते हैं कि जिस मनुष्य को कोई अनुभव नहीं होता, वह सोया हुआ है, अथवा मूढ़ या नासमझ है। पर जिस मनुष्य को कोई अनुभव नहीं हो रहा, किंतु जो पूरी तरह जाग्रत है, उसका मन निर्दोष, मासूम होता है, और इसलिए वह स्पष्टता से देख पाता है। तो क्या यह संभव है? हाँ या नहीं मत कहिए।

प्रश्नकर्ता: जब आप कहते हैं उसका कोई अनुभव नहीं है, तो क्या इससे आपका यह आशय है कि वह जीवन के बुनियादी स्वरूप से भी अनजान है?
कृष्णमूर्ति: नहीं, नहीं। देखिए, सर, हम जिस समाज में रहते हैं, जैसा भोजन करते हैं, कपड़े पहनते हैं, जिस प्रकार की जलवायु में रहते हैं, उस सब के द्वारा संस्कारित होते हैं। संस्कृति से, साहित्य से, समाचारपत्रों से हमारा अनुकूलन होता रहता है, हमारे मन को हर चीज़ से आकार मिलता जाता है, चेतन रूप से अथवा अचेतन रूप से। जब आप अपने आप को ईसाई, या बौद्ध, या जो कुछ भी कहा करते हैं, वह आपकी संस्कारबद्धता, 'कंडीशनिंग' ही तो होती है। और हम एक संस्कारबद्धता से दूसरी संस्कारबद्धता की ओर डोलते रहते हैं। मुझे हिन्दू धर्म पसन्द नहीं आता, तो मैं ईसाई धर्म या किसी और चीज़ में कूद पड़ता हूँ। अगर मुझे एक गुरु पसंद नहीं आता, तो मैं किसी और गुरु का अनुयायी बन जाता हूँ। इस प्रकार, हम संस्कारों की गिरफ्त में हैं। तो क्या यह संभव है कि हम मन को संस्कारमुक्त कर सकें, ताकि यह पूरी तरह से आज़ाद हो? इसका अर्थ हुआ कि क्या आपके लिए अपनी पूरी संस्कारबद्धता के प्रति सजग होना संभव है—यह चुनते हुए नहीं कि कौन से संस्कार आपको पसन्द हैं, बल्कि क्या आप समस्त संस्कारबद्धता के प्रति सजग हो सकते हैं, जो तभी संभव है जब कोई चुनना नहीं होता और कोई अवलोकनकर्ता, 'ऑब्ज़र्वर' नहीं होता। उस पूरी की पूरी संस्कारबद्धता को देखना है, चेतन तथा अचेतन दोनों ही स्तरों पर, इसकी समग्रता में। और आप किसी शै की समग्रता को तभी देख पाते हैं, जब आपके और उसके बीच कोई दूरी न हो-विचार की, समय की हलचल के रूप में रची गयी दूरी। तभी आप उसे पूरा का पूरा देखते हैं। और जब उस सम्पूर्णता का प्रत्यक्ष बोध होता है, तब संस्कारमुक्ति, 'अनकंडीशनिंग' अस्तित्व में आती है। लेकिन हम उस किस्म की चीज़ पर काम नहीं करना चाहते। हम हर चीज़ के संदर्भ में सबसे आसान तरीका अपनाना चाहते हैं। इसीलिए हमें गुरु पसन्द आते हैं। पुरोहित, राजनीतिज्ञ, प्राधिकारी, विशेषज्ञ, ये लोग जानते हैं, किंतु हम नहीं जानते; ये हमें बताएंगे कि करना क्या है, जो कि सत्ता-प्रामाण्य को, 'अथॉरिटी' को हमारी परम्परागत मान्यता है, स्वीकृति है।

प्रश्नकर्ता: सही कर्म से जुड़ा एक प्रश्न है। असल में, जिस अवस्था में हम हैं, प्रत्येक कर्म ही एक आत्मकेंद्रित गतिविधि है। और जब आप यह देख लेते हैं, तो आपको कुछ भी करने से डर लगने लगता है, क्योंकि किसी चीज़ की कोई सार्थकता ही नहीं रही। यह एक वास्तविकता है, इसमें कोई चयन या कल्पना नहीं है। आप एक अथाह शून्यता का सामना कर रहे होते हैं और आप...
कृष्णमूर्ति: मैं प्रश्न समझ रहा हूँ...

प्रश्नकर्ता: यहाँ तक कि सामान्य, भौतिक गतिविधि भी...
कृष्णमूर्ति: जब अवलोकन होता है, और आप देखते हैं कि आप कुछ नहीं कर सकते, तो आपका कहना है कि एक शून्यता का सामना होता है। ज़रा इस वाक्य के साथ, इन शब्दों के साथ ठहरिए। अवलोकन होता है, आप महसूस करते हैं कि आप कुछ कर नहीं सकते और

इसलिए एक शून्यता होती है वहाँ। क्या ऐसा है? जब मैं देखता हूँ कि पहले तो मैं कुछ करने में सक्षम था तो कोई शून्यता सामने नहीं थी। आप समझ रहे हैं? मैं इसके बारे में कुछ कर सकता था, लिबरल पार्टी में शामिल हो जाइए, 'न्यूरोटिक' या जो भी उसे कहें बन जाइए- क्षमा करें! (हँसी)। पहले मैं कुछ कर सकता था और सोचता था कि कुछ करने की वजह से शून्यता नहीं है। चूंकि मैंने उस शून्यता को भर दिया था, कुछ करने के ज़रिये, जो कि उस शून्यता से, उस अकेलेपन से, अलगाव के उस ज़बरदस्त एहसास से भागना है। और अब, जब मैं इस करने के मिथ्यात्व को, इसके झूठ को देख लेता हूँ, किसी भी चीज़ के बारे में कुछ करने को-जो कोई सार्थकता अथवा कोई उत्तर नहीं प्रदान कर रहा है—तब मैं खुद से कहता हूँ "मैं देख रहा हूँ कि मैं वह अवलोकनकर्ता हूँ, और मैं अरक्षित रह गया हूँ, एकदम नग्न, शून्य। मैं कुछ कर नहीं सकता। अस्तित्व की, होने की कोई सार्थकता है ही नहीं।" पहले, आप अस्तित्व को सार्थकता दिया करते थे, जो कि वह सार्थकता थी जिसे विचार ने बुना था, हर तरह की कल्पनाओं, उम्मीद और बाकी सब के ज़रिये, और अचानक आपको एहसास होता है कि विचार से उन समस्याओं का समाधान नहीं होता है, और आपको जीवन के कोई मायने नज़र नहीं आते, कोई सार्थकता नहीं दिखाई देती। तो आप जीवन को सार्थकता देना चाहते हैं—समझ रहे हैं? यह सार्थकता आप देना चाहते हैं (हँसी)। नहीं, हँसिए मत, यही तो हम किया करते हैं। हममें से ज़्यादातर के लिए इस जीने का कुछ मतलब नहीं है अब। जब हम युवा होते हैं, तो कहते हैं, "चलो, कम से कम कुछ खुशी के पल तो मिलेंगे"-सेक्स और बाकी सब। पर जैसे-जैसे हमारी आयु बढ़ती है, हम कहते हैं, "हे ईश्वर, कितना खाली-खाली जीवन है यह!", और तब आप उस खालीपन को साहित्य से, जानकारी से, विश्वासों से, सिद्धांतों से, रीति-रिवाज़ से, अभिमतों से, निर्णयों से भरते जाते हैं, और आप सोचते हैं कि इसकी जीवन में अद्भुत सार्थकता है। आपने उसे शब्दों से भर डाला है, और कुछ नहीं बस शब्द ही शब्द। और अब, जब कि आपने शब्दों को उतार फेंका है, तो आप कहते हैं, "मैं शून्य हूँ, खाली-खाली"।

प्रश्नकर्ता: अब भी ये शब्द ही हैं।
कृष्णमूर्ति: अब भी शब्द ही हैं, यही तो मैं कह रहा हूँ। अभी भी शब्द ही हैं। तो जब आप देखते हैं कि जिसे आपने सार्थकता समझा-माना था, उसे विचार ने ही रचा है, और जब आप विचार की परिमितता को, सीमा को देख पाते हैं, और यह भी कि जो इसने रचा है उसकी कोई सार्थकता, कोई महत्ता नहीं है, तो आप खाली-खाली, शून्य, उघड़े-से रह जाते हैं। क्यों? क्या ऐसा नहीं है कि आप अभी भी किसी चीज़ की तलाश में हैं? क्या विचार अभी भी कार्यरत नहीं है? जब आप कहते हैं, "मेरी कोई अर्थवत्ता नहीं है, जीवन की कोई सार्थकता नहीं है", तो यह विचार ही है जो आपसे कहलवा रहा है कि कोई सार्थकता नहीं, क्योंकि आपको सार्थकता चाहिए। किंतु जब विचार की कोई हलचल नहीं है, जीवन सार्थकता से परिपूर्ण होता है। इसमें अपार सौन्दर्य होता है। आपको इसका पता नहीं है...

प्रश्नकर्ता: विचार डरा हुआ है, विचार न करने से।

कृष्णमूर्ति: तो विचार न करने से विचार डरा हुआ है। कल हम विचार की इस पूरी समस्या पर बात करेंगे: विचार जो कि डर पैदा करता है और जीवन को कोई सार्थकता प्रदान करने में जिसकी दिलचस्पी रहती है। यदि आप वाकई अपने जीवन को जाँचे-परखें, तो इसमें कुछ खास अर्थ है नहीं; या है? आपके पास सुखद स्मृतियाँ हैं, अथवा असुखद स्मृतियाँ हैं, जो अतीत की हैं, मर चुकी हैं, बीत चुकी हैं लेकिन आप उन्हें सँभाले रहते हैं, पकड़े रहते हैं। और फिर मृत्यु का यह सारा भय है। आप बस काम, काम और काम में लगे रहे हैं—ईश्वर जाने क्यों-और यह चीज़ आपकी प्रतीक्षा कर रही है। और आप कहते हैं, “क्या यही सब कुछ है?” अतः हमें समय व मापन के रूप में विचार की गतिविधि के इस प्रश्न में पैठना होगा।

5

भय की समस्या

"यदि आप भय से पूर्णतया मुक्त हो सकें तो फिर स्वर्ग आपके संग-साथ है।"

यह जीवन, जो समस्याओं, परेशानियों, उलझनों, हिंसा और दुःख-दर्द से भरा है, इस संदर्भ में हमें जो भी करने की दरकार है, उससे पेश आने के लिए हमारा संजीदा होना ज़रूरी है। जीते सिर्फ वही हैं जो चीज़ों को सच में गंभीरता से लेते हैं, बाकी तो अपना जीवन यों ही गंवाया करते हैं और अपना होना ही व्यर्थ कर देते हैं। तो इस सुबह हम भय की इस पूरी की पूरी जटिल समस्या पर गौर करने वाले थे। मनुष्य का मन इतने लम्बे समय से, सदियों-सदियों से भय के साथ निभाता आ रहा है, इससे पलायन करता आ रहा है, इसका औचित्य साबित करने का जतन करता रहा है, इसको भुला देने का प्रयास करता रहा है, अथवा किसी ऐसी चीज़ के साथ, जो भय नहीं है, अपना तादात्म्य, 'आइडेंटिफिकेशन' करता रहा है—हम इन तमाम तरीकों को आज़मा चुके हैं। और सवाल यह उठता है कि क्या भय से पूरी तरह से मुक्त होना संभव है भी कि नहीं-मानसिक रूप से तथा शारीरिक तौर पर भी? हम इस विषय पर चर्चा करने जा रहे हैं, साथ-साथ बातचीत करने, यह खोजने जा रहे हैं कि क्या ऐसा संभव है भी?

पहले, हम बात करें ऊर्जा पर, ऊर्जा की गुणवत्ता पर, उसकी किस्मों पर, और इच्छा के प्रश्न पर और यह भी कि क्या इस प्रश्न में पैठने के लिए हमारे पास पर्याप्त ऊर्जा है। विचार के घर्षण से, उस ऊर्जा से, तो हम परिचित हैं; इसने तकनीकी के संसार में नितांत असाधारण वस्तुओं की रचना की है। किंतु मानसिक रूप से हममें भय के प्रश्न के भीतर गहराई तक प्रवेश करने हेतु वैसी गहन ऊर्जा, गतिशीलता, रुचि मौजूद हो, ऐसा लगता नहीं।

हमें इस चीज़ को समझना होगा कि कैसे विचार अपनी खुद की ऊर्जा उत्पन्न किया करता है, और जो इस वजह से एक विखंडित ऊर्जा होती है, घर्षण-संघर्ष व द्वंद्व के ज़रिये उपजी ऊर्जा होती है। हमें बस वही तो मालूम है: विचार की ऊर्जा, वह ऊर्जा जो अन्तर्विरोध से, दुई

में दो चीज़ों के भिड़ने से उत्पन्न होती है: घर्षण-संघर्ष की ऊर्जा। और यह सब घटित होता है वास्तविकता के संसार में; वास्तविकता से हमारा तात्पर्य उन वस्तुओं से है जिनके साथ हम रोज़ाना जीते हैं, मन और बुद्धि दोनों के तल पर, इत्यादि।

उम्मीद है हमारा एक-दूसरे के साथ संवाद हो पा रहा है। संवाद में केवल शाब्दिक तौर पर समझना ही नहीं, बल्कि जो कहा जा रहा है उसमें वस्तुतः सहभागी होना भी निहित है, अन्यथा मिलना नहीं हो पाएगा। केवल शाब्दिक संवाद ही नहीं हो रहा है, बल्कि एक सम्मिलन, एक कम्यूनियन भी तो है, जो शब्दातीत, अशाब्दिक है। किंतु उस शब्दातीत सम्मिलन तक आ पाने के लिए, बहुत गहराई से यह समझा जाना ज़रूरी है कि क्या एक-दूसरे के साथ शब्दों के तल पर हमारा संवाद हो पा रहा है अथवा नहीं, जिसका तात्पर्य है कि इन शब्दों के अर्थ में हम दोनों भागीदार हैं, वही दिलचस्पी, वही पैनापन, उसी स्तर पर, हम दोनों में है, ताकि हम कदम-दर-कदम इस तरफ आगे बढ़ सकें। और उसके लिए दरकार है ऊर्जा की। और वह ऊर्जा तभी अस्तित्व में आ सकती है, जब हम विचार की ऊर्जा को और उसके घिसाव को समझें, जिसमें हम फँसे हुए हैं। अगर आप अपने अंदर तहकीकात करें तो आप देख सकेंगे कि जो भी हम जानते हैं, या अनुभव करते हैं, वह विचार द्वारा अपनी उपलब्धि के, अपनी इच्छाओं के, अपने प्रयोजनों के चलते किया जा रहा घर्षण, घिसाव ही तो है—यह ज़ोर लगाना, यह संघर्ष, यह प्रतिस्पर्द्धा। विचार की ऊर्जा में यह सब शामिल है।

अब हमारा प्रश्न यह है कि क्या कोई और तरह की ऊर्जा भी है, जो यांत्रिक न हो, परंपराश्रित न हो, अन्तर्विरोध से मुक्त हो, और इसलिए उस तनाव से रहित हो जिसके चलते ऊर्जा पैदा हुआ करती है। क्या कोई अन्य प्रकार की ऊर्जा होती है अथवा नहीं, जो कल्पित न हो, कथा-कहानी न हो, अन्धविश्वास का हिस्सा न हो, यह पता लगाने के लिए हमें इच्छा के प्रश्न की पड़ताल करनी होगी।

इच्छा है किसी चीज़ की कमी महसूस करना, ऐसा ही है न? यह इच्छा का एक हिस्सा हुआ। और एक होती है किसी चीज़ के लिए बेकरारी, ललक, उसका तआल्लुक चाहे सेक्स से हो, मन से हो या फिर वह तथाकथित आध्यात्मिक अभीप्सा हो। और यह इच्छा उदित कैसे होती है, उगती कैसे है? इच्छा है किसी चीज़ का अभाव, किसी चीज़ की कमी, कुछ ऐसा है जिसे आप 'मिस' कर रहे हैं, चाह रहे हैं कि वह आपके पास हो; और फिर एक होती है उसके लिए बेकरारी, वह चाहे ख्यालों में हो, काल्पनिक, या असली ज़रूरत हो, जैसे भूख। और समस्या यह है कि व्यक्ति के अंदर चाह का जन्म कैसे होता है। क्योंकि भय का सीधा सामना करने के लिए हमें चाह को, इच्छा को समझना होगा-इच्छा को नकारना नहीं, अपितु इच्छा क्या है इसमें अंतर्दृष्टि पाना। हो सकता है इच्छा ही भय की जड़ हो। सारे संसार में धार्मिक साधकों ने इच्छा को नकारा है, उन्होंने इच्छा का प्रतिरोध किया है, उन्होंने उस इच्छा का अपने देवताओं, अपने मुक्तिदाताओं, अपने यीशु या किन्हीं अन्य के साथ तादात्म्य कर लिया है, अपनी इच्छा को उनसे जोड़ लिया है; किंतु है वह फिर भी इच्छा ही। और इच्छा के

प्रश्न में पूर्ण रूप से प्रवेश किये बगैर, इसमें अंतर्दृष्टि पाए बगैर, मन संभवतः भय से मुक्त नहीं हो सकता।

हमें एक भिन्न प्रकार की ऊर्जा की आवश्यकता है, विचार की यांत्रिक ऊर्जा की नहीं, क्योंकि वह हमारी किसी भी समस्या को हल नहीं कर पायी है; इसके विपरीत, उसने इन समस्याओं को कहीं अधिक जटिल, अधिक विराट, समाधान की दृष्टि से असंभव बना दिया है। अतः हमें एक भिन्न प्रकार की ऊर्जा की खोज करनी है। क्या वह ऊर्जा विचार से संबंधित है, या फिर विचार से स्वतंत्र है, इस विषय की पड़ताल करने के लिए हमें इच्छा के प्रश्न की तह तक जाना होगा। क्या आप यह समझ रहे हैं?-किसी और की इच्छा नहीं, बल्कि आपकी अपनी इच्छा। तो इच्छा उत्पन्न कैसे होती है? हम देख सकते हैं कि पहले तो वस्तु प्रत्यक्ष होती है अर्थात सामने दिखती है, फिर संवेदन उपजता है, फिर संपर्क होता है और तब इच्छा उत्पन्न होती है। हम देखते हैं कुछ ऐसा, जो खूबसूरत है, फिर संपर्क-स्पर्श होता है, आँखों द्वारा, शरीर द्वारा, इंद्रियों के माध्यम से, और फिर संवेदन महसूस होता है, और तब उस वस्तु के अभाव का, उसकी कमी का एहसास होता है। और उससे इच्छा उत्पन्न होती है। यह काफी स्पष्ट है।

इस मन को, पूरी की पूरी ऐंद्रिय संरचना को, यह कमी क्यों महसूस होती है? किसी चीज़ की कमी का, उसे चाहने का यह एहसास क्यों होता है? उम्मीद है, जो कहा जा रहा है उस पर आप यथेष्ट ध्यान दे रहे होंगे, क्योंकि यह आपका जीवन है। आप केवल शब्दों, विचारों, या फार्मूलों को नहीं सुन रहे हैं, बल्कि यथार्थ में जाँच-पड़ताल की प्रक्रिया में सहभागी हो रहे हैं, ताकि हम एक ही दिशा की ओर, एक ही रफ़तार से, उसी प्रगाढ़ता से और एक ही स्तर पर साथ-साथ चल सकें, नहीं तो हमारा एक-दूसरे से मिलना नहीं हो पाएगा। यह भी प्रेम का ही हिस्सा है। प्रेम वह संवाद-संप्रेषण है, जो एक-दूसरे से, एक ही स्तर पर, एक ही समय, एक-सी प्रगाढ़ता के साथ होता है।

तो व्यक्ति को किसी वस्तु की कमी या आवश्यकता का बोध क्यों होता है? मुझे मालूम नहीं कि आपने कभी इस प्रश्न पर ध्यान दिया भी है अथवा नहीं? मनुष्य का मन, या मनुष्य प्राणी सदैव किसी न किसी चीज़ के पीछे क्यों लगे रहते हैं? तकनीकी जानकारी प्राप्त करने, भाषाएँ आदि सीखने के अतिरिक्त, हमें क्यों सारा समय किसी चीज़ की आवश्यकता का, किसी चीज़ की कमी का एहसास होता रहता है, क्यों हम हमेशा किसी-न-किसी चीज़ के पीछे दौड़ते रहते हैं?-जो कि इच्छा की गति है, और जो समय के अंतर्गत, समय व मापन के रूप में विचार की गति भी है। इसमें यह सब कुछ आ जाता है।

हम पूछ रहे हैं, यह कमी का एहसास क्यों रहता है? पूर्ण आत्मनिर्भरता का एहसास क्यों नहीं रहता? किसी चीज़ को भरने या उसे ढँकने के उद्देश्य से कुछ पा लेने की यह ललक हममें क्यों रहती है? क्या ऐसा इसलिए होता है कि हममें से ज़्यादातर लोगों में एक खालीपन

का, अकेलेपन का, सूनेपन का एहसास बना रहता है? शारीरिक रूप से हमें भोजन, कपड़ों और शरणस्थल की आवश्यकता होती है, और यह आवश्यकता पूरी होनी भी चाहिए। किंतु यह पूरी नहीं हो पाती, क्योंकि राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, और राष्ट्रीय तौर पर हम विभाजित हैं जो कि इस संसार के लिए अभिशाप है। राष्ट्रीयता की यह भावना पूर्वी संसार में नहीं थी, इसका आविष्कार पश्चिमी संसार ने किया है; यों अब पूर्वी संसार में भी यह विषाक्त भावना आ पहुँची है। और जब जनसमूहों के बीच, राष्ट्रीयताओं तथा विश्वासों, रूढ़ियों के बीच विभाजन होता है, तब सब लोगों के लिए सुरक्षा लगभग असंभव हो जाती है। तानाशाही का आततायी संसार यह मुहैया कराने का प्रयास कर रहा है—प्रत्येक को आहार-किंतु वह इसमें सफल नहीं हो पाएगा। यह सब हम जानते ही हैं, तो हम आगे बढ़ें। तो वह क्या है जिसकी हममें कमी है? ज्ञान की? अर्थात मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा अन्य दिशाओं में किये गये कार्य से अर्जित अनुभवों का संचय; और यह ज्ञान अतीत में है। ज्ञान, जानकारी अतीत है। क्या यही है वह, जो हम चाहते हैं? क्या यही हम 'मिस' कर रहे हैं? क्या इसीलिए हमें शिक्षित किया गया है कि तकनीकी संसार में निपुणतापूर्वक कार्य करने के लिए जितनी संभव हो सके उतनी जानकारी बटोर लें? अथवा हमें किसी कमी का, चाह का एहसास हुआ करता है, मानसिक रूप से, आंतरिक रूप से? जिसका अर्थ हुआ कि आप उस आंतरिक खालीपन को, कमी को, अनुभव से या अनुभव के ज़रिये भरने का प्रयास करेंगे जो कि संचित ज्ञान है। तो आप उस खालीपन को, उस शून्यता को, उस विराट अकेलेपन के एहसास को उस चीज़ से भरने का प्रयास कर रहे हैं, जिसे विचार ने रचा है। तो इच्छा का उदय उस खालीपन को भरने की ललक से होता है। आखिरकार, जब आप संबोधि, 'एन्लाइटनमैंट', या जैसा कि हिन्दू कहते हैं, आत्मसाक्षात्कार की तलाश में हैं, तो वह इच्छा का ही तो एक रूप है। अज्ञान का यह एहसास, हम सोचते हैं, ढेर सारा ज्ञान अर्जित करने पर, संबोधि हासिल कर लेने पर मिट जाएगा, या दूर हो जाएगा, या विसर्जित हो जाएगा। हमारा सरोकार 'जो है' उसकी तहकीकात से कभी नहीं रहा, बल्कि कुछ हासिल करने से रहा है; यह सरोकार वास्तव में 'जो है' को देखने से नहीं रहा है, बल्कि उसको आमंत्रित करने से रहा है जिसका शायद वजूद हो! या फिर यह सरोकार कोई अधिक महान अनुभव, अधिक श्रेष्ठ ज्ञान अर्जित कर लेने की किसी उम्मीद से रहा है। अतः हम सदैव 'जो है' से कतराते रहे हैं, और इस 'जो है' को विचार ने ही उत्पन्न किया है। मेरा अकेलापन, सूनापन, व्यथा, पीड़ा, दुःख, चिंता, भय, असल में यही सब तो है 'जो है', और विचार इसका सामना करने में अक्षम है, और इससे दूर भागने की कोशिश करता रहता है।

तो इच्छा को समझने में-अर्थात कुछ प्रत्यक्ष होना, उसे देखना, संपर्क, संवेदन, और फिर उस चीज़ की कमी का एहसास जो आपके पास नहीं है, इस तरह इच्छा, उस चीज़ को हासिल करने की ललक पैदा होती है—इसमें समय की पूरी की पूरी प्रक्रिया शामिल है। मेरे पास यह नहीं है, लेकिन यह मेरे पास होगा। और जब मेरे पास यह सचमुच होगा, तो मैं उसकी माप-जोख करूँगा उसके हिसाब से, जो आपके पास है। अतः इच्छा समय में मापन के रूप में विचार की गति है। कृपया मेरे साथ सहमत भर न हों। मेरी रुचि 'प्रोपेगंडा' में, प्रचार में नहीं

है। मुझे परवाह नहीं कि आप यहाँ आते हैं या नहीं, मुझे सुनते हैं या नहीं। किंतु चूँकि यह जीवन आपका है, चूँकि यह अपरिहार्य रूप से महत्त्वपूर्ण है कि हम बेहद संजीदा हों-संसार खंड-खंड हो रहा है—आपको इच्छा के, ऊर्जा के इस प्रश्न को समझना होगा, और एक भिन्न प्रकार की अयांत्रिक ऊर्जा के विषय में खोजबीन करनी होगी। और इस बिंदु तक पहुँचने के लिए आपको यह समझना होगा कि भय क्या होता है। मतलब, क्या इच्छा भय उत्पन्न करती है? हम सब मिल-जुल कर भय के इस प्रश्न की तहकीकात करने जा रहे हैं: भय क्या है? आप शायद कहें, "ऊर्जा और इच्छा के बारे में भूल जाइए, और बस मेरे भय से छुटकारा दिलाने में मेरी मदद कर दीजिए!" वह तो बहुत ही मूढ़ता की बात होगी, क्योंकि ये सारी चीज़ें आपस में जुड़ी हैं। आप इनमें से सिर्फ एक को लेकर इस विषय में प्रवेश नहीं कर सकते। आपको पूरा-का-पूरा 'पैकेज' ही लेना होगा, पूरी-की-पूरी पोटली।

तो भय क्या है, यह कैसे प्रकट होता है? क्या भय एक तल पर होता है और दूसरे तल पर नहीं? भय क्या चेतन तल पर होता है, अथवा अचेतन तल पर? या, क्या कोई ऐसा भय होता है जिसे हम संपूर्ण भय कहें? तो भय उठता कैसे है? यह मनुष्य के अंदर मौजूद क्यों है? और मनुष्य प्राणी पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसे बरदाश्त करते आये हैं, इसके साथ रहते आये हैं। भय कर्म को विकृत कर देता है, यह बोधयुक्त विचारणा को, वस्तुनिष्ठ कार्यकुशल विचारणा को-जो कि आवश्यक है—विकृत करता है; तर्कसंगत, विवेकपूर्ण, स्वस्थ विचार तो ज़रूरी है। भय हमारे जीवन को अंधकारमय बना देता है। मैं नहीं जानता कि आपने कभी इस पर गौर किया है कि नहीं? यदि ज़रा भी भय हो, तो हमारी सारी इंद्रियों में जकड़न आने लगती है। और हममें से अधिकांश लोग, चाहे जो संबंध हमारे हों, उस अजीब किस्म के भय के साये में ही जिया करते हैं।

हमारा प्रश्न यह है कि क्या कभी यह मन और हमारा समस्त अस्तित्व, भय से पूर्ण रूप से मुक्त हो सकता है? शिक्षा ने, समाज ने, सरकारों ने, धर्मों ने इस भय को प्रोत्साहित किया है; धर्म तो भय पर ही आधारित हैं। और मान्यता, 'अथॉरिटी' की उपासना के ज़रिये भी भय पनपता-बढ़ता है—वह चाहे किसी पुस्तक की मान्यता हो, पुरोहित की या उन लोगों की जो जानकार हैं। हमें बड़े सलीके से भय में पोषित किया जाता है। और हम पूछ रहे हैं कि क्या इससे पूरी तरह से मुक्त होना संभव है भी? तो हमें पता लगाना होगा कि भय क्या है? क्या यह किसी चीज़ का अभाव है?-जो कि इच्छा है, ललक है। क्या यह आने वाले कल की अनिश्चितता है? या बीते हुए कल की पीड़ा है? क्या यह आपके और मेरे बीच वह विभाजन है, जिसके चलते कोई संबंध है ही नहीं? क्या यही वह केन्द्र है जिसे विचार ने 'मैं' के रूप में उत्पन्न किया है—'मैं' जो आकृति है, नाम है, लक्षण है—और क्या यह उस 'मैं' को खो देने का भय है? क्या यह भय के कारणों में से एक है? या फिर यह अतीत की स्मृति है, कोई सुखद, सुहावनी स्मृति और उसके खो जाने का भय? या यह दुख उठाने का भय है, शारीरिक और मानसिक तौर पर? क्या कोई एक ऐसा केन्द्र है जिससे समस्त भय उपजते हैं?-एक वृक्ष की तरह, जिसकी यद्यपि कई शाखाएँ होती हैं, किंतु उसका एक ठोस तना

होता है, जड़ें होती हैं, अतः सिर्फ उसकी शाखाओं की काट-छाँट करते रहना व्यर्थ है। तो हमें भय की जड़ तक जाना होगा; क्योंकि यदि आप भय से पूर्णतया मुक्त हो सकें तो फिर स्वर्ग आपके संग-साथ है।

भय का मूल, उसकी जड़ क्या है? क्या यह समय है, काल? देखिए, हम खोजबीन कर रहे हैं, पूछताछ कर रहे हैं, हम कोई 'थ्योरी' नहीं बना रहे, किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच रहे, क्योंकि निष्कर्ष निकालने के लिए कुछ है ही नहीं। जिस क्षण आप भय का मूल कारण देख लेते हैं, वस्तुतः, अपनी आँखों से, अपनी भावनाओं से, अपने हृदय से, अपने मन से-जब सचमुच आप इसे देख पाते हैं—तब आप इसके बारे में कुछ कर सकते हैं; बशर्ते कि आप संजीदा हों। हम पूछ रहे हैं: क्या इसका कारण समय है? समय केवल कालानुक्रमिक समय नहीं है, घड़ी के अनुसार, या कल, आज और कल के रूप में, अपितु मानसिक समय भी है, जो बीते हुए कल की यादें, उस कल के मज़े, और उसकी पीड़ा, चिंता और संताप है। हम पूछ रहे हैं कि क्या भय का मूल कारण समय है? आशाओं पर खरा उतरने के लिए समय, कुछ होने-हवाने के लिए समय, उपलब्धि के लिए समय, ईश्वर के साक्षात्कार या इसे जो कुछ भी आप कहना चाहें उसके लिए समय। मानसिक रूप से समय क्या है? क्या ऐसा कुछ है भी-कृपया ध्यान से सुनें-जिसे हम मानसिक समय कहें? या मानसिक समय का आविष्कार हमीं ने कर लिया है? मानसिक रूप से क्या कोई कल है? यदि कोई कहे कि मानसिक रूप से कल के तौर पर कोई समय है ही नहीं, तो आपको काफी गहरा झटका लगेगा, नहीं? क्योंकि आप कहते हैं, "कल मैं सुखी हो जाऊँगा; कल मुझे उपलब्धि होगी; कल मैं किसी बड़े कारोबार का प्रबंध-अधिकारी बन जाऊँगा; कल मुझे संबोधि उपलब्ध हो जाएगी; कल गुरु जी किसी अवस्था का आश्वासन देंगे और मुझे उसकी प्राप्ति हो जाएगी।" हमारे लिए कल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। और क्या मानसिक रूप से कोई कल है? हमने इसे स्वीकार कर लिया है: यह सब हमारी परंपरागत शिक्षा का अंग है कि आने वाले कल का वजूद है। और जब आप मानसिक स्तर पर देखते हैं, अपने भीतर खोजबीन करते हैं, तो क्या कोई आने वाला कल आपके ज़हन में होता है? अथवा विचार ने, स्वयं में विखंडित होने के कारण इस कल का प्रक्षेपण कर लिया है? आइए, इसे ठीक से समझते हैं, इस बात को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

व्यक्ति शारीरिक दुःख से गुज़रता है, खूब सारी पीड़ा से। और उस पीड़ा की स्मृति अंकित हो जाती है, एक अनुभव के रूप में, जिसे मस्तिष्क अपने में रखे रहता है और इस प्रकार उस पीड़ा की स्मृति बनी रहती है। और विचार कहता है, "मैं आशा करता हूँ कि ऐसी पीड़ा मुझे फिर कभी नहीं होगी": यही कल है। या कल खूब मज़ा आया था, सेक्स का या और किसी भी किस्म का मज़ा, और विचार कहता है, "कल भी वही मज़ा मुझे फिर से मिलना चाहिए"। आप किसी ज़बरदस्त अनुभव से गुज़रे-कम से कम आप तो सोचते ही हैं कि वह ज़बरदस्त अनुभव था-और वह फिर याद बन जाता है; और यह भान होने पर भी कि वह एक याद ही है, आप कल फिर उसके पीछे दौड़ेंगे। तो विचार समय के भीतर एक गतिविधि है। क्या भय

की जड़ समय है?-समय, आपसे तुलना के रूप में, 'मैं' जो 'आप' से अधिक महत्त्वपूर्ण है, 'मैं' जो कुछ उपलब्ध करने जा रहा है, कुछ बनने जा रहा है, किसी चीज़ से छुटकारा पाने जा रहा है।

अतः विचार समय के रूप में, विचार कुछ बनने के, 'बिकमिंग' के रूप में, भय का मूल है, उसकी जड़ है। हम कह चुके हैं कि समय किसी भाषा को सीखने के लिए आवश्यक है, वह किसी तकनीक को सीखने के लिए भी आवश्यक है। और हम सोचते हैं कि इसी प्रक्रिया को हम अपने मानसिक जीवन पर भी लागू कर सकते हैं। किसी भाषा को सीखने के लिए मुझे कई सप्ताह चाहिए, और मैं कहता हूँ कि इसी प्रकार अपने बारे में सीखने के लिए कि मैं कौन हूँ, या कि मुझे क्या हासिल करना है, मुझे समय की दरकार है। हम इस सारी प्रक्रिया पर सवाल उठा रहे हैं। क्या मानसिक स्तर पर वस्तुतः समय होता है, या फिर यह विचार का आविष्कार है और इस वजह से भय उत्पन्न होता है? यह हमारी समस्या है, और हमने चेतना को जान-बूझकर चेतन और छुपे हुए में विभाजित कर दिया है। यह भी विचार द्वारा किया गया विभाजन है। और हम कहते हैं, "मैं अपने चेतन डरों से तो छुटकारा पा सकता हूँ किंतु अचेतन डरों से, जिनकी जड़ें अवचेतन की गहराई में हैं, मुक्त होना लगभग असंभव है।" हम कहने लगते हैं कि अचेतन डरों से मुक्त होना कहीं अधिक कठिन है जो प्रजातीय भय हैं, पारिवारिक भय हैं, कबीलाई भय हैं, वे भय हैं जिनकी जड़ें गहराई तक गयी हुई हैं, जो नैसर्गिक भय हैं। पहले तो हमने चेतना को दो स्तरों में विभाजित कर दिया, और फिर हम पूछने लगे: मनुष्य अचेतन में प्रवेश कैसे कर पाएगा? पहले हम इसे विभाजित कर लेते हैं, और फिर यह प्रश्न पूछा करते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि सपनों के माध्यम से कई प्रच्छन्न, छुपे हुए डरों का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने के बाद हम अचेतन में जा सकते हैं। यह फैशन हो गया है। हम कभी भी विश्लेषण की पूरी प्रक्रिया को नहीं देखते-परखते, चाहे वह आत्मविश्लेषण के रूप में हो, या पेशेवर हो। विश्लेषण में निहित हैं विश्लेषक यानी विश्लेषण करने वाला, और विश्लेषित यानी जिसका विश्लेषण किया जा रहा है। तो विश्लेषक कौन है? क्या वह विश्लेषित से भिन्न है, या फिर विश्लेषक ही विश्लेषित है; और इसलिए विश्लेषण करना नितांत निरर्थक है। पता नहीं आप यह देख पा रहे हैं या नहीं? यदि विश्लेषक ही विश्लेषित है, तो केवल अवलोकन होता है, विश्लेषण नहीं। किंतु विश्लेषक विश्लेषित से भिन्न है—ऐसा आप सब लोग स्वीकार करते हैं, सभी पेशेवर यह स्वीकार करते हैं, वे सब लोग इसे स्वीकार करते हैं जो अपने आप को सुधारने का प्रयास कर रहे हैं—ईश्वर भला करे!-वे सब यह स्वीकार करते हैं कि विश्लेषित और विश्लेषक के बीच भेद होता है। किंतु विश्लेषक विचार का ही एक खंड है जिसने उस वस्तु को रच लिया है, जिसका विश्लेषण किया जाना है। पता नहीं आपको यह स्पष्ट हुआ कि नहीं? तो विश्लेषण में विभाजन अंतर्निहित है और उस विभाजन में समय निहित है। और यह विश्लेषण आपको मृत्युपर्यंत करते रहना पड़ेगा।

तो जब विश्लेषण पूर्ण रूप से मिथ्या है—मैं ‘मिथ्या’ शब्द का प्रयोग ‘जो सही नहीं’ उस मायने में कर रहा हूँ, अर्थात जिसका कोई मूल्य नहीं-तब आपका वास्ता केवल अवलोकन से, देखने से ही होता है। अवलोकन करना!-हमें इसे समझना होगा कि अवलोकन क्या है। क्या आप यह सब समझ रहे हैं? हमने इससे शुरुआत की थी कि क्या कोई भिन्न प्रकार की ऊर्जा है। मुझे खेद है कि हमें थोड़ा पीछे लौटना होगा, ताकि यह आपके मन में बस जाए-आपकी स्मृति में नहीं, जो कि एक पुस्तक पढ़ कर उसे अपने समक्ष दोहरा लेने की तरह है, जिसका कुछ मतलब नहीं है। अतः हमारा सरोकार ऊर्जा से है, यानी हम ऊर्जा के प्रश्न की पड़ताल कर रहे हैं। हम विचार की ऊर्जा से परिचित हैं जो कि यांत्रिक है, द्वंद्व की, रगड़ खाते चले जाने की प्रक्रिया है, क्योंकि विचार की प्रकृति ही विखंडित होना है, विचार कभी समग्र नहीं होता। और हमने पूछा है कि क्या कोई पूर्णतया भिन्न प्रकार की ऊर्जा होती है, और इसी की हम तहकीकात कर रहे हैं। और इसकी जाँच-पड़ताल करते हुए, हम इच्छा की समस्त गतिविधि को देखते हैं। इच्छा वह अवस्था है जिसमें किसी चीज़ की कमी महसूस होती है, उसे हासिल करने की ललक होती है। और वह इच्छा विचार की ही गतिविधि है, समय व मापन के रूप में: “मैंने यह हासिल कर लिया, अब मुझे और ज़्यादा हासिल करना है”। और भय को समझने के संदर्भ में हमने यह कहा कि हो सकता है समय और समय की गति ही भय का मूल हो। यदि आप इसकी गहराई में जाएँगे तो आप देख लेंगे कि यही भय का मूल है, और यह यथार्थ तथ्य है। तो, क्या मन के लिए यह संभव है कि वह भय से पूर्णतः मुक्त हो सके? क्योंकि मस्तिष्क, जिसने ज्ञान का संचय कर रखा है, तभी निपुणतापूर्वक कार्य कर सकता है जब वह पूर्ण रूप से सुरक्षित हो-किंतु वह सुरक्षा तो किसी ‘न्यूरॉटिक’, झक्की क्रियाकलाप में भी हो सकती है, किसी आस्था में हो सकती है, इस विश्वास में हो सकती है कि आप एक महान राष्ट्र हैं; और साफ है कि सारी आस्थाएँ झक ही होती हैं, क्योंकि वे वास्तविक नहीं होतीं। और मस्तिष्क तभी प्रभावी ढंग से, स्वस्थ तरीके से, तर्कसंगत ढंग से कार्य कर सकता है, जब यह अपने आप को पूर्ण रूप से सुरक्षित महसूस करे, और भय उसे यह सुरक्षा नहीं देता। इस भय से मुक्त होने के लिए, हमने पूछा था, क्या विश्लेषण आवश्यक है? और हम देख पाते हैं कि विश्लेषण भय की समस्या का समाधान नहीं करता। अतः जब आपको विश्लेषण की प्रक्रिया के संदर्भ में अंतर्दृष्टि मिलती है, आप विश्लेषण करना छोड़ देते हैं। और फिर रह जाता है सिर्फ अवलोकन का प्रश्न, देखने का प्रश्न। यदि आप विश्लेषण नहीं करते हैं, तब आपको करना क्या होता है? तब आप केवल देख सकते हैं। और यह पता लगाना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि देखा कैसे जाता है।

देखने से अभिप्राय क्या है? क्या अभिप्राय है इच्छा के इस प्रश्न को इस तरह देखने का कि इच्छा समय और मापन के अंतर्गत एक गति है? आप इसे कैसे देखते हैं? क्या आप इसे किसी विचार के तौर पर देखते हैं, किसी सूत्र, किसी फॉर्मूले की तरह, क्योंकि आपने वक्ता को इसके बारे में बोलते हुए सुना है? अतः जो आप सुनते हैं, उसका आप विचार के रूप में एक खाका बना लेते हैं और फिर उस विचार का अनुशीलन करते हैं—जो अभी भी, भय से मुँह मोड़ना ही तो हुआ। अतः जब आप अवलोकन करते हैं, तो यह पता लगाना अत्यंत

महत्त्वपूर्ण है कि आप अवलोकन कैसे करते हैं।

क्या आप अपने भय का, बिना उससे पलायन किए, बिना उसका दमन किए, बिना उसे तर्कसंगत ठहराए, या बिना उसे कोई नाम दिए अवलोकन कर सकते हैं? अर्थात क्या आप अपने भय को, कल नौकरी न रहने के भय को, प्यार न पा सकने के भय को, एवं भय के दर्जनों प्रकारों को, बिना कोई नाम दिए, बिना द्रष्टा के अर्थात बिना देखने वाले के, देख सकते हैं? क्योंकि द्रष्टा ही दृश्य है, अवलोकन करने वाला ही अवलोकन का विषय है। पता नहीं, आपको यह बात समझ आ रही है या नहीं। तो द्रष्टा ही, देखने वाला ही भय है, यह नहीं कि 'वह' उस 'भय' का अवलोकन कर रहा है।

तो क्या आप अवलोकनकर्ता के बगैर अवलोकन कर सकते हैं? अवलोकनकर्ता, जो कि अतीत है। और तब क्या भय रह जाता है? आप समझे? किसी चीज़ को एक द्रष्टा के तौर पर देखने की ऊर्जा तो हमारे पास है; मैं आपकी ओर देखता हूँ और कहता हूँ, "आप ईसाई हैं, हिन्दू हैं, बौद्ध हैं," या जो भी आप हैं; या मैं आपको यह कहता देखता हूँ, "मैं आपको पसंद नहीं करता", या "मैं आपको पसंद करता हूँ"। यदि आप उसी चीज़ में विश्वास करते हैं जिसमें मेरा भी विश्वास है, तो आप मेरे मित्र होते हैं; यदि मैं उन चीज़ों पर विश्वास नहीं करता जिन पर आप करते हैं, तो आप मेरे शत्रु होते हैं। तो क्या आप किसी को देख सकते हैं, विचार की, स्मृति की, आशा की इस तमाम हलचल के बगैर-सिर्फ देखना? देखिए उस भय को जो समयरूपी मूल है, जड़ है? तब क्या भय का कोई भी वजूद रहता है? समझ रहे हैं? आप यह तभी पता लगा पाएँगे जब आप इसका परीक्षण करेंगे, इसे परखेंगे, जब आप इस पर काम करेंगे; इसे महज़ मनबहलाव का विषय बना लेने से कुछ पता नहीं चलने वाला।

फिर इच्छा का एक अन्य रूप भी होता है, जो न केवल भय को, बल्कि मज़े को भी रचता है। इच्छा मज़े का ही एक रूप है। मज़ा (प्लैश्जर) आह्लाद (जॉय) से भिन्न है। मज़े को आप पोषित कर सकते हैं, जैसा कि आधुनिक संसार कर रहा है, यौन रूप में, और नाना प्रकार के सांस्कृतिक बढ़ावे के रूप में-मज़ा, ज़बरदस्त मज़ा और मज़े की वह दौड़। और जहाँ मज़े के पीछे वह दौड़ होगी, वहाँ भय ने होना ही है, क्योंकि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आह्लाद को आप आमंत्रित नहीं कर सकते; जब आह्लाद घटित होता है तो विचार उसे पकड़ लेता है और याद रखता है, और तब यह उस आह्लाद को हासिल करने में लग जाता है जो आपको एक साल पहले या कल मिला था, और यही मज़ा बन जाता है। जब आह्लाद घटित होता है, एक खूबसूरत सूर्यास्त, कोई प्यारा-सा पेड़, या किसी झील की गहरी छाया देखने पर-तब वह आह्लाद स्मृति के रूप में मस्तिष्क में अंकित हो जाता है और उस स्मृति का पीछा करना ही मज़ा है।

तो भय है, मज़ा है, और आह्लाद है। क्या यह संभव है—यह कहीं अधिक जटिल समस्या है —क्या यह संभव है कि हम किसी सूर्यास्त को, किसी व्यक्ति के सौंदर्य को, किसी एकांत

मैदान में एक पुरातन वृक्ष के प्यारे-से आकार को देखें-उससे आह्लादित होने की, उसके सौंदर्य की अनुभूति तो होगी-देखें उसे, मस्तिष्क में उसे अंकित किये बिना, जो फिर स्मृति बन जाती है, और तब कल हम उसका पीछा करने लगते हैं। अर्थात, कुछ सुंदर देखा और बस, बात वहीं खत्म हो गयी; उसे ढोते नहीं रहें।

मनुष्य के अंदर एक और अभिवृत्ति काम करती है। भय और मज़े के अलावा, एक अभिवृत्ति दुःख की भी है। क्या दुःख का कोई अंत है? शारीरिक स्तर पर तो हम दुःख का अंत चाहते हैं, इसीलिए हम दवाएँ लेते हैं और योग के हर किस्म के तरीके अपनाते हैं वगैरह, वगैरह। किंतु हम दुःख के, मानवीय दुःख के प्रश्न का समाधान कभी नहीं कर पाये, किसी एक मनुष्य विशेष के दुःख का नहीं, बल्कि समस्त मानवता के दुःख का। आपका अपना दुःख है, और संसार में अन्य करोड़ों-करोड़ों लोग भी दुःख भोग रहे हैं, युद्ध के, भुखमरी के, क्रूरता के, हिंसा के, बमों के कारण। और क्या एक मनुष्य के तौर पर, आपके भीतर उस दुःख का अंत हो सकता है? क्या यह आपके भीतर समाप्त हो सकता है, क्योंकि आपकी चेतना ही तो संसार की चेतना है, हर अन्य मनुष्य की चेतना है? सतही तौर पर आपका बाह्य आचरण भिन्न हो सकता है, किंतु मूलभूत रूप से, गहराई में, आपकी चेतना इस संसार के प्रत्येक अन्य मनुष्य की चेतना है। दुःख, मज़ा, भय, महत्त्वाकांक्षा, यही सब तो आपकी चेतना है। अतः आप ही संसार हैं। और यदि आप भय से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाते हैं, तो आप समस्त संसार की चेतना को प्रभावित करते हैं। क्या आप समझ रहे हैं कि यह किस कदर असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण है कि हम मनुष्य अपने आप को बदलें, एकदम गहरे में, क्योंकि ऐसा करना प्रत्येक अन्य मनुष्य की चेतना को प्रभावित करने वाला है? हिटलर ने, स्टालिन ने संसार की पूरी चेतना को प्रभावित किया, पादरी-पुरोहितों ने किसी के नाम के सहारे जो कुछ उपलब्ध किया उसने भी संसार को प्रभावित किया। अतः यदि आप मनुष्य के नाते स्वयं में एक आमूल परिवर्तन ले आते हैं और भय से मुक्त हो जाते हैं, तो स्वाभाविक है कि आप संसार की इस चेतना को प्रभावित करेंगे।

इसी प्रकार, करुणा तभी अस्तित्व में आती है, जब दुःख से मुक्ति होती है, उससे पहले नहीं। आप करुणा के बारे में बात कर सकते हैं, पुस्तकें लिख सकते हैं, करुणा क्या है इस पर विचार-विमर्श कर सकते हैं, किंतु करुणा का आरंभ होता है, दुःख का अंत हो जाने पर। मनुष्य का मन दुःख को बरदाश्त करता आया है, अंतहीन दुःख को; युद्धों में आपके बच्चे मारे जाते रहे हैं, और आगे भी, भविष्य में होने वाले युद्धों से उत्पन्न और अधिक दुःख-तकलीफ स्वीकार करने के लिए आपकी रज़ामंदी है। फिर शिक्षा के ज़रिये उपजता दुःख है—आधुनिक शिक्षा जो तकनीकी ज्ञान अर्जित करवा देने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—जो बहुत बड़े विषाद का कारण बनता है। तो करुणा, जो कि प्रेम है, उसका आगमन जीवन में तभी हो सकता है जब आप दुःख की गहनता को तथा दुःख के अंत को पूरी तरह समझ लें। तो क्या इस दुःख का अंत हो सकता है, किसी दूसरे में नहीं, बल्कि आपमें? ईसाइयों ने दुःख को एक पैरोडी, विद्रूपिका ही बना डाला है—इस शब्द के प्रयोग के लिए

क्षमा करें-किंतु बात वास्तव में यही है। हिन्दुओं ने इसे एक बौद्धिक मसला बना दिया है: जो कुछ आपने पूर्वजन्म में किया है उसकी कीमत आप वर्तमान जीवन में चुका रहे हैं, और यदि आप इस समय सही बरताव करें तो भविष्य में आपका जीवन सुखी रहेगा! किंतु वे इस समय सही बरताव कदापि नहीं करते; इसका मतलब है कि वे इस विश्वास को बस ढोये जा रहे हैं जो निहायत बेमायने है। किंतु जो मनुष्य संजीदा है उसका सरोकार होगा करुणा से, इससे कि प्रेम का अर्थ क्या है, क्योंकि इसके बिना चाहे आप कुछ भी कर लें, दुनिया भर में गगनचुंबी भवन बनाते रहें, बेहतरीन आर्थिक स्थितियाँ व सामाजिक आचरण ले आएँ, लेकिन बिना प्रेम के, बिना करुणा के जीवन बस एक रेगिस्तान बन कर रह जाता है।

अतः यह समझने के लिए कि करुणा के साथ जीने का अर्थ क्या है, आपको यह समझना होगा कि दुःख क्या है। एक दुःख होता है शारीरिक पीड़ा, शारीरिक व्याधि, शारीरिक दुर्घटना से होने वाला दुःख जो आम तौर से मन को प्रभावित कर दिया करता है, विकृत कर दिया करता है—यदि आप कुछ समय शारीरिक पीड़ा से ग्रसित रहें, तो वह आपके मन को तोड़ने-मरोड़ने लगती है; और इस कदर सजग रहने के लिए कि शारीरिक पीड़ा मन को न छू पाए, मन को खूब आंतरिक सजगता की दरकार होती है। और शारीरिक दुःख के अलावा भी, कई तरह के दुःख हैं, अकेलेपन का दुःख, वह दुःख जब कोई आपको प्यार नहीं करता, कोई हमें प्यार करे इसकी लालसा बनी रहती है, और ऐसा हो भी जाए तो भी कुछ-न-कुछ असंतुष्टि बनी ही रहती है उससे, कारण कि हमने प्रेम को एक ऐसी चीज़ बना डाला है जो हमें तुष्टि प्रदान करे, हम चाहते हैं कि प्रेम हमें तृप्त करे। फिर मृत्यु के कारण होने वाला दुःख है; इस कारण भी दुःख की मौजूदगी है हमारे जीवन में कि पूर्ण समग्रता का एक भी क्षण, संपूर्णता का ऐसा बोध जो आंशिक न हो, हम नहीं जी पाते, सदैव विखंडन में जीते हैं जो अंतर्विरोध है, संघर्ष है, उलझाव है, क्लेश है। और इन सब से भागने के लिए हम मंदिरों में, और धार्मिक एवं अधार्मिक हर तरह के तमाशों में जाते हैं, ड्रग का सेवन करते हैं, सामूहिक और व्यक्तिगत थेरेपी में भाग लेते हैं; आप जानते ही हैं इन सारी चालबाज़ियों को जो हम अपने व दूसरों के साथ भी किया करते हैं—यदि आप दूसरों के साथ चालबाज़ी करने में माहिर हों तो। अपार वेदना है जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को देता रहता है। हम पशुओं को भी वेदना देते हैं, उन्हें मारते हैं, खा जाते हैं, हमने एक के बाद एक उनकी कई प्रजातियों को नष्ट कर दिया है, क्योंकि हमारा प्रेम विखंडित है, टुकड़ों में बँटा है। हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, और इनसानों की हत्या करते रहते हैं।

क्या इसका अंत हो सकता है? क्या दुःख का पूरी तरह से अंत हो सकता है, ताकि संपूर्ण एवं समग्र करुणा अस्तित्व में आ सके? क्योंकि दुःख के लिए अंग्रेज़ी में जो 'सफरिंग' शब्द है, उसका अर्थ, उसका मूल अर्थ है 'पैशन', आवेग-ईसाई इसे जिस अर्थ में लेते हैं वह नहीं, वासना भी नहीं, वह तो एकदम मामूली, आसान मामला है, बल्कि हम बात कर रहे हैं करुणा की, जिसका अर्थ है सभी के प्रति आवेग की प्रगाढ़ता, हर चीज़ से सरोकार; और दुःख से पूरी तरह मुक्ति होने पर ही इसका वजूद मुमकिन है।

देखिए, यह बड़ी जटिल समस्या है, भय और मज़े की तरह, ये सब आपस में संबंधित हैं। क्या व्यक्ति इसकी गहराई में जा सकता है, देख सकता है कि क्या मन एवं मस्तिष्क के लिए हर प्रकार के मानसिक, आंतरिक दुःख से पूरी तरह मुक्त होना कभी संभव है। यदि हम इसे समझे नहीं और इससे मुक्त नहीं हुए तो हम दूसरों के दुःख का कारण बनते रहेंगे, जैसा कि हम करते रहे हैं, हालाँकि आप ईश्वर पर विश्वास करते हैं, क्राइस्ट में, बुद्ध में, विविध प्रकार की आस्थाएँ हैं आपकी; तो भी आप पीढ़ी-दर-पीढ़ी मनुष्य को मारते चले आये हैं। समझ रहे हैं आप कि हम क्या कर रहे हैं, हमारे राजनीतिज्ञ भारत में और यहाँ कर क्या रहे हैं? ऐसा क्यों है कि मानवजाति जो स्वयं को अद्भुत रूप से जीवंत, बुद्धिमान मानती है, क्यों उसने अपने आप को दुःखग्रस्त होने दिया है? जब हमें जलन होती है तो दुःख से गुज़रना पड़ता है; जलन नफरत का ही एक रूप है। और ईर्ष्या हमारी बुनावट, हमारी प्रकृति का हिस्सा है, जो है अपनी तुलना किसी और से करना; क्या आप बिना तुलना किये जी सकते हैं? हम सोचते हैं कि बिना तुलना के हम विकसित नहीं होंगे, आगे नहीं बढ़ेंगे, कोई शख्सियत नहीं बन पाएँगे। किंतु क्या कभी आपने ऐसा करके देखा है—सचमुच, वास्तव में करके देखा है—किसी भी अन्य से तुलना किये बिना देखा है जीवन जीकर? आपने संतों की जीवनियाँ पढ़ रखी हैं और अगर आपका रुझान उस तरफ है, तो जैसे-जैसे आप बुढ़ापे की ओर बढ़ते हैं आप उस तरह का बनना चाहते हैं; तब नहीं जब आप युवा होते हैं, उस समय तो आप इन सब बातों को बुढ़िया-पुराण, नितांत अव्यावहारिक मानते हैं। पर जैसे-जैसे आप कब्र के नज़दीक पहुँचने लगते हैं, आपकी जैसे नींद खुल जाती है।

दुःख के विविध रूप होते हैं। क्या आप उसको देख सकते हैं, बिना उससे भागने की कोशिश किये क्या आप उसका अवलोकन कर सकते हैं?-दृढ़ता से, बस उस एहसास के साथ बने रहना। जब मेरी पत्नी-मैं शादीशुदा नहीं हूँ—मुझे छोड़ कर चली जाती है, या किसी दूसरे की ओर देखती है—कानूनन वह मेरी है और मैं उसे जकड़े रखता हूँ—और जब वह मुझसे पल्ला छुड़ा कर भागती है तो मुझे ईर्ष्या होती है; क्योंकि मैं स्वयं को उसका स्वामी मानता हूँ और इस स्वामित्व में मैं संतुष्ट, सुरक्षित महसूस करता हूँ; और किसी का बनकर रहना भी अच्छा लगता है, उससे भी संतुष्टि मिलती है। तो उस ईर्ष्या को, उस जलन को, उस नफरत को क्या आप विचार की किसी भी हलचल के बिना देख सकते हैं, और उसके साथ ठहर सकते हैं? आप समझ पा रहे हैं उसे, जो मैं कह रहा हूँ? ईर्ष्या एक प्रतिक्रिया है, एक प्रतिक्रिया जिसे स्मृति के ज़रिये 'ईर्ष्या' नाम दिया गया है, और उससे दूर भागने, या उसे जायज़ ठहराने, या फिर क्रोध, नफरत और इस तरह की बाकी चीज़ों के साथ उसमें लिप्त रहने के लिए मुझे प्रशिक्षित किया गया है, लेकिन इस सब में से कुछ भी किये बिना, क्या मेरा मन बिना किसी गतिविधि के, दृढ़ता से इसके साथ रह सकता है? आप समझ रहे हैं जो मैं कह रहा हूँ? ऐसा करके देखिए और आप खुद जान लेंगे कि तब क्या होता है।

इसी प्रकार, जब आप दुःख से गुज़र रहे हों, मानसिक रूप से, तो पूरी तरह से ठहरे रहें उसके साथ, विचार की एक भी हरकत के बगैर। तब आप देखेंगे कि उस दुःख-वेदना से

आगमन होता है उस विलक्षण एहसास का, जिसे 'पैशन', प्रगाढ़ आवेग कहते हैं। और अगर आपमें उस तरह का आवेग नहीं है, तो आप सृजनशील नहीं हो सकते। तो उसी दुःख-वेदना से करुणा का आविर्भाव होता है। और वह ऊर्जा, विचार की यांत्रिक ऊर्जा से पूर्णतः भिन्न होती है।

6

पहला संवाद

> “आपको मानसिक रूप से कोई कैदखाने में नहीं डाल सकता। आप तो पहले से ही वहाँ हैं।”

कृष्णमूर्ति: यह बातचीत दो मित्रों के बीच एक संवाद के रूप में है, जो अपनी समस्याओं पर चर्चा कर रहे हैं, उन्हें केवल अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से ही नहीं, बल्कि संसार में जो कुछ चल रहा है उससे भी सरोकार है। गंभीर होने के कारण इन दो मित्रों में अपने को रूपांतरित करने की ललक है और यह देखने की भी कि वे इस संसार के बारे में, और इसमें जो बदहाली और भ्रांति फैली हुई है, उसके बारे में क्या कर सकते हैं। तो क्या आज सुबह हम अपना कुछ समय साथ-साथ एक मैत्रीपूर्ण बातचीत में व्यतीत करें, चतुर बनने का प्रयास किये बिना, और किसी राय का विरोध किसी दूसरी राय या आस्था द्वारा किये बिना? और साथ-साथ गंभीरता व गहराई से अपनी कुछएक समस्याओं का निरीक्षण करें? इस तरह संप्रेषण काफी महत्त्वपूर्ण बन जाता है, और कोई भी प्रश्न व्यक्तिगत न रह कर सार्वजनीन हो जाता है। अगर यह बात समझ आ गयी हो, तो आज सुबह हम किस विषय पर आपस में चर्चा करें?

प्रश्नकर्ता: आपकी जीवनी ने ढेर सारी उलझनें व प्रश्न पैदा कर दिये हैं। मैंने उन्हें थोड़े से प्रश्नों में समेट दिया है। मैं कम से कम उन्हें आपको दे तो दूँ?
कृष्णमूर्ति: क्या आप मेअरी लट्यन्स द्वारा लिखित जीवनी के बारे में चर्चा करना चाहते हैं? क्या आप इसमें जाना चाहेंगे?

प्रश्नकर्ता: नहीं।
कृष्णमूर्ति: शुक्र है (हँसी)।

प्रश्नकर्ता (1): संक्षेप में; और फिर आगे बढ़ जाएँ।
प्रश्नकर्ता (2): मेरा सुझाव है कि आप सही व गलत विचारणा के प्रश्न की विवेचना करें; यह एक समस्या है। दोनों ही प्रकार के विचार या विचार-प्रक्रियाएँ, यांत्रिक प्रक्रियाएँ ही हैं।
कृष्णमूर्ति: अच्छा। क्या हम इस पर बात करें? क्या आप उस जीवनी के बारे में चर्चा करना चाहेंगे-क्या आपमें से बहुतों ने इसे पढ़ा है? कुछएक ने। मैं इसे आज सुबह ही देख रहा था (हँसी)। इसमें से ज़्यादातर मैं भूल चुका हूँ और यदि आप कतिपय उन प्रश्नों पर चर्चा करना चाहते हैं जो मुझे दिये गये हैं, तो क्या हम पहले संक्षेप में यह बात कर लें?

मूलभूत रूप से प्रश्न यह है: वर्तमान 'के॰' तथा पहले वाले 'के॰' के बीच क्या संबंध है? (हँसी)। मुझे लगता है, बहुत कम। मूल प्रश्न यह है, ऐसा कैसे हुआ कि यह बालक जो वहाँ मिल गया था, जिसे 'पाया' गया था जैसा कि कहा गया, ऐसा कैसे हुआ कि वह शुरू से ही कतई संस्कारग्रस्त नहीं हुआ, हालांकि उसकी परवरिश एक अत्यंत रूढ़िवादी, परंपरागत ब्राह्मण परिवार में हुई जिसमें अंधविश्वास, दर्प और नैतिकता के असाधारण धार्मिक एहसास का माहौल था। तो वह उससे संस्कारित क्यों नहीं हुआ? और बाद में उन दिव्यात्माओं, उन 'मास्टरों', दीक्षा इत्यादि की कालावधि में भी-यदि आपने इस विषय में पढ़ा हो-वह संस्कारग्रस्त क्यों नहीं हो पाया? और उस व्यक्ति तथा इस वर्तमान व्यक्ति के बीच क्या संबंध है? क्या इस सब में आपकी वाकई दिलचस्पी है?

श्रोतागण: हाँ।
कृष्णमूर्ति: मेरी नहीं है। वह अतीत समाप्त हो चुका है, दफना दिया गया है और बीत चुका है। मुझे नहीं पता कि इस पर क्या बात हो। एक प्रश्न दिव्यात्माओं, 'मास्टर्स' के बारे में है, जैसा कि उनका विवरण थियोसॉफ़ी में ही नहीं, बल्कि हिन्दू परंपरा में व तिब्बती परंपरा में भी मिलता है, जिसकी मान्यता के अनुसार, बोधिसत्त्व का अस्तित्व होता है, और वह स्वयं को प्रकट करता है, और संस्कृत में उसे अवतार कहते हैं, जिसका अर्थ होता है प्रकट होना। इस बालक को उस प्राकट्य के लिए ही खोज निकाला गया था, तैयार किया गया था। और वह नाना प्रकार की घटनाओं से गुज़रता है। और एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है कि क्या हमारे लिए भी उसी प्रक्रिया से गुज़रना ज़रूरी है। क्रिस्तोफर कोलंबस ने पाल वाली नावों के सहारे खतरनाक समुद्रों से होते हुए अमेरिका की खोज की थी, क्या यह ज़रूरी है कि हम सब भी उसी तरह अमेरिका पहुँचें? क्या आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं? हवाई जहाज़ से जाना ज़्यादा सरल होगा! तो एक प्रश्न यह था। कैसे उस बालक की परवरिश हुई यह नितांत अप्रासंगिक है, प्रासंगिक है तो अब विद्यमान शिक्षा, 'टीचिंग'; बाकी कुछ नहीं।

बोधिसत्त्व के बारे में एक अति प्राचीन मान्यता है कि चेतना की एक अवस्था होती है, मैं इसे ऐसे कहना चाहूँगा, जो करुणा का सारतत्त्व है। और जब संसार अस्तव्यस्तता में होता है तब करुणा का वह सारतत्त्व स्वयं को प्रकट करता है। अवतार और बोधिसत्त्व के परिप्रेक्ष्य में कुल मिलाकर यही धारणा है। और फिर कई श्रेणियाँ हैं, दीक्षाएँ हैं, कई 'मास्टर' इत्यादि हैं।

साथ ही यह भी धारणा है कि जब वह प्रकट होता है तो बाकी सब खामोश रहते हैं। आप समझ रहे हैं? और करुणा का यह सारतत्त्व विभिन्न कालों में प्रकट हो चुका है। इस सब में जो महत्त्वपूर्ण है, यदि इस बारे में संक्षेप में बात की जा सके, वह है: क्या मन हर तरह के अनुभवों से गुज़रते हुए, चाहे वे काल्पनिक हों या वास्तविक-क्योंकि सत्य का अनुभवों से कोई सरोकार नहीं है, हम संभवतः सत्य का अनुभव नहीं कर सकते, वह तो बस मौजूद होता है, आप उसका अनुभव नहीं कर सकते-तो उन विविध काल्पनिक, भ्रांतिमूलक अथवा वास्तविक अवस्थाओं के अनुभवों से गुज़रते हुए भी, क्या मन संस्कारबद्धता से अनछुआ रह सकता है? प्रश्न यह है कि क्या मन केवल बचपन में ही नहीं, बल्कि हमेशा संस्कारमुक्त, 'अनकंडीशन्ड' रह सकता है। इसमें यही समस्या या मुद्दा अंतर्निहित है।

तो जैसा कि हमने कहा, यह सब अप्रासंगिक है। मुझे नहीं मालूम कि आप लोगों को भारत, तिब्बत तथा चीन और जापान की पुरानी परंपरा के बारे में कुछ पता है या नहीं, एक विशेष ऊर्जा के जागरण के विषय में, जिसे कुंडलिनी कहते हैं। इस समय पूरे अमेरिका और यूरोप में कई ग्रुप अपनी छोटी-मोटी ऊर्जा को जाग्रत करने का प्रयास कर रहे हैं, आपने इस बारे में सुना है, है न? और कुछ ग्रुप इसका अभ्यास भी कर रहे हैं। मैंने एक समूह को टी वी में देखा जिसमें एक सज्जन तमाम किस्म के शब्दों और भाव-भंगिमाओं के साथ तरह-तरह के करतब करते हुए उन्हें सिखा रहे थे कि वह कुंडलिनी, वह ऊर्जा, कैसे जाग्रत की जाती है—इस तरह यह सब कुछ एकदम अर्थहीन और बेतुका बन जाता है। ज़ाहिर है कि एक ऐसा जागरण होता है, किंतु मैं उसके विस्तार में नहीं जाऊँगा, क्योंकि यह बहुत ज़्यादा पेचीदा है, और शायद यह आवश्यक या प्रासंगिक भी नहीं है।

तो मैं सोचता हूँ कि मैंने इस प्रश्न का जवाब दे दिया है; ठीक?

दूसरा प्रश्न यह पूछा गया था: क्या कोई अयांत्रिक, गैरमशीनी गतिविधि होती है? क्या कोई ऐसी गति है—गति का अर्थ समय है—क्या मन की एक ऐसी स्थिति है, जो केवल अयांत्रिक ही न हो, बल्कि समय के क्षेत्र के अंतर्गत भी न हो? जो प्रश्न उठाया गया था उसमें यह निहित है। क्या आप इस पर चर्चा करना चाहेंगे या फिर किसी अन्य विषय पर? किसी और ने भी एक लिखित प्रश्न भेजा है, "सजग होना क्या है? क्या सजगता अवधान से, 'अटेन्शन' से भिन्न होती है? सजगता का अभ्यास क्या विधिवत् करना होता है या यह सहज रूप से आ जाती है?" यह प्रश्न है। क्या कोई और प्रश्न भी हैं?

प्रश्नकर्ता (1): क्या आप इस प्रश्न में जाएँगे कि अपनी सही संकल्पशक्ति खोज लेने का अर्थ क्या होता है?
प्रश्नकर्ता (2): निषेध व दमन में फर्क क्या है?
प्रश्नकर्ता (3): जब मैं किसी दूसरे व्यक्ति के साथ होता हूँ तब मैं अपनी सारी सजगता खो देता हूँ; किंतु तब नहीं जब मैं अकेला होता हूँ।

कृष्णमूर्ति: क्या हम सजगता के विषय में चर्चा करें, यहाँ से शुरुआत करें और फिर सारे मसले की पड़ताल करें, स्वयं की नियति की संकल्पशक्ति समेत?

प्रश्नकर्ता: संजीदगी और प्रयास के बारे में चर्चा करना कैसा रहेगा?
कृष्णमूर्ति: संजीदगी और प्रयास, हाँ। अभी हम सजगता की बात कर रहे हैं। क्या चयन स्वतंत्रता की निशानी है? मैं इस समाज का हूँ या उस समाज का, या उस संप्रदाय का, या फिर किसी धर्म विशेष का हूँ अथवा नहीं हूँ, इस सब को मैं चुनता हूँ। मैं एक खास नौकरी चुनता हूँ—चयन। क्या चयन स्वतंत्रता की निशानी है? या, क्या स्वतंत्रता चयन का निषेध करती है? आइए, इस पर साथ-साथ चर्चा करें।

प्रश्नकर्ता: स्वतंत्रता का अर्थ है, किसी भी चयन की आवश्यकता का न होना।
कृष्णमूर्ति: किंतु हम चुनते हैं, और सोचते हैं चूँकि हमारे पास चुनने का सामर्थ्य है, अतः हम स्वतंत्र हैं। मैं लिबरल पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी में से एक को चुन लेता हूँ, और इस चयन के कारण मैं महसूस करता हूँ कि मैं स्वतंत्र हूँ। या मैं इस गुरु को या उस गुरु को चुनता हूँ, और ऐसा करना मुझे एहसास देता है कि मैं स्वतंत्र हूँ। तो क्या चयन सजगता की ओर ले जाता है?

प्रश्नकर्ता: नहीं।
कृष्णमूर्ति: धीरे-धीरे बढ़िए।

प्रश्नकर्ता: चयन संस्कारबद्धता की अभिव्यक्ति है, क्या ऐसा नहीं है?
कृष्णमूर्ति: यही तो मैं पता लगाना चाहता हूँ।

प्रश्नकर्ता: मुझे ऐसा लगता है कि या तो हमारी प्रतिक्रिया आदत से आती है, या हमारा उत्तर विचार करके नहीं आ रहा होता।
कृष्णमूर्ति: हम वहाँ तक आएँगे। हम इसकी छानबीन करेंगे कि बिना चयन के उत्तर देने का क्या अर्थ होता है। हम चुनने के अभ्यस्त हैं, यह हमारा संस्कार है।

प्रश्नकर्ता: पसंद और नापसंद।
कृष्णमूर्ति: चयन में यह सब निहित है। मैं आपको अपना मित्र चुनता हूँ, तथा कोई और है जिसके प्रति मैत्री मैं नकार देता हूँ। हम यह पता लगाना चाहते हैं कि क्या सजगता में चयन शामिल है। या फिर सजगता मन की ऐसी स्थिति है, अवलोकन की ऐसी स्थिति, जिसमें कोई चयन है ही नहीं। क्या यह संभव है? हमें बचपन से ही चुनने के लिए शिक्षित किया जाता है और यह हमारी परंपरा है, हमारी आदत है, हमारी मशीनी, मूलप्रवृत्तिगत प्रतिक्रिया है। और हम सोचते हैं: चूँकि हम चुनते हैं, इसलिए हम स्वतंत्र हैं। सजगता का अर्थ क्या है, सजग होने का? इसमें निहित है न केवल शारीरिक संवेदनशीलता, बल्कि पर्यावरण, प्रकृति के प्रति

भी संवेदनशील होना, साथ ही औरों की प्रतिक्रियाओं और स्वयं अपनी प्रतिक्रियाओं के प्रति भी संवेदनशीलता। यह नहीं कि मैं अपने तईं तो संवेदनशील हूँ, किंतु औरों के प्रति मुझमें संवेदनशीलता नहीं है: यह तो संवेदनशीलता नहीं हुई।

तो सजगता में शामिल है पूर्ण संवेदनशीलता: रंगों के प्रति, प्रकृति के प्रति, अपनी सभी प्रतिक्रियाओं के प्रति, कैसे मैं औरों को जवाब देता हूँ, उनके प्रति मेरी क्या प्रतिक्रिया होती है, यह सब निहित है सजगता में, है कि नहीं? यह जो तंबू लगा है मैं इसके प्रति, इसकी रूपाकृति के प्रति सजग होता हूँ। हम सजग होते हैं प्रकृति के प्रति, प्रकृति के संसार के प्रति, वृक्षों के सौंदर्य के प्रति, वृक्षों की खामोशी, उनकी आकृति, शोभा, गहनता और उनके एकांत के प्रति। और हम सजग होते हैं औरों के साथ अपने संबंध के प्रति, वह संबंध चाहे करीबी हो, या न हो। क्या उस सजगता में किसी भी तरह का चयन है?-स्नायविक, 'न्यूरोलॉजिकल' तौर पर यानी नस-नस में, शारीरिक तौर पर, मानसिक तौर पर, अपने आस-पास की चीज़ों के प्रति, उन प्रभावों के प्रति, उन सारी आवाज़ों के प्रति, इस सब के प्रति पूर्ण सजगता में, है कोई चयन वहाँ? क्या हम सजग हैं, न केवल अपने, बल्कि औरों के भी विश्वासों, अभिमतों, निर्णयों, निष्कर्षों के प्रति? क्योंकि सजगता में यह सब निहित है—अन्यथा हम सजग हैं ही नहीं। और क्या आप किसी स्कूल या कॉलेज में जाकर सजगता का अभ्यास कर सकते हैं, या किसी गुरु के पास जाकर, जो आपको सिखाए कि सजग कैसे हुआ जाता है? क्या वह सजगता हुई? जिसका मतलब है, क्या अभ्यास द्वारा सजगता को विकसित किया जा सकता है?

प्रश्नकर्ता: वह तो स्वार्थपरता बन जाती है, स्वयं पर एकाग्रता।
कृष्णमूर्ति: हाँ, यानी जब तक पूर्ण संवेदनशीलता न हो, वह सजगता महज़ अपने आप पर ही केंद्रित होने वाली बात हो जाती है।

प्रश्नकर्ता: जिसमें सजगता पीछे छूट जाती है।
कृष्णमूर्ति: हाँ, ठीक बात है। पर बहुत-से स्कूल हैं, बहुत-से गुरु हैं, बहुत-से आश्रम हैं, 'रिट्रीट' हैं, जहाँ इस चीज़ का अभ्यास किया जाता है।

प्रश्नकर्ता: जब इसका अभ्यास किया जाता है, तो यह वही पुरानी तिकड़म ही तो होती है।
कृष्णमूर्ति: वह तो ज़ाहिर है। यह सीखने के लिए कि सजगता क्या है, हम भारत या जापान चले जाते हैं—ज़ेन अभ्यास और वह सारा कुछ। या फिर, सजगता अनवरत अवलोकन की, निरंतर देखने की एक लय है, गति है? न सिर्फ उसे जो मैं महसूस करता हूँ, जो मैं सोचता हूँ, बल्कि उसे भी जो अन्य लोग मेरे बारे में कहते हैं—सुनना, यदि वे इसे मेरे सामने कह रहे हैं —और प्रकृति के प्रति सजग रहना, उसके प्रति जो कुछ संसार में घटित हो रहा है। यह है संपूर्ण सजगता। ज़ाहिर है कि इसका तो अभ्यास नहीं किया जा सकता।

प्रश्नकर्ता: यह तो अ-गति हुई न-गति के न होने की अवस्था?
कृष्णमूर्ति: नहीं, यह गति ही है, 'सजीव होने' के अर्थ में।

प्रश्नकर्ता: यह एक भागीदारी है।
कृष्णमूर्ति: भागीदारी में निहित है कर्म, एक्शन। यदि कर्म चयन के ज़रिये होता है, तो वह एक प्रकार का कर्म हुआ; यदि यह संपूर्ण सजगता का कर्म होता है, तो वह पूरी तरह से अलग प्रकार का कर्म है, ज़ाहिर है। क्या हम उस तरह से सजग हैं? या हम बस इन शब्दों में लिप्त हो रहे हैं, 'सजग होना'। आप समझ रहे हैं? अपने आस-पास मौजूद लोगों के प्रति, रंगों के प्रति सजग रहना, और उन लोगों के तौर-तरीके, उनका चलना-फिरना, वे कैसे खाते हैं, कैसे सोचते हैं, इस सब के प्रति सजग रहना-कोई धारणा बना लेने के फेर में पड़े बिना।

प्रश्नकर्ता: क्या इसका प्रयोजन से कोई संबंध है? यदि आपका कोई प्रयोजन हो...
कृष्णमूर्ति: निस्संदेह। जब चयन होता है तभी प्रयोजन अस्तित्व में आता है; यह इसमें निहित है। जब मेरा कोई प्रयोजन होता है तभी चयन की बात आती है। मैं आपको चुनता हूँ क्योंकि आप मुझे पसंद हैं, या आप मेरी चापलूसी करते हैं, या आप मुझे कुछ-न-कुछ देते हैं, दूसरा ऐसा नहीं करता, इसलिए चयन की बात आ जाती है। तो क्या यह संभव है?-संपूर्ण सजगता का यह एहसास।

प्रश्नकर्ता: क्या सजगता का कोई माप-तोल होता है?
कृष्णमूर्ति: यानी कि क्या सजगता समय की एक प्रक्रिया है?

प्रश्नकर्ता: क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से ज़्यादा सजग हो सकता है?
कृष्णमूर्ति: मुझे इसकी छानबीन में क्यों पड़ना चाहिए कि क्या आप मुझसे ज़्यादा सजग हैं? ज़रा रुकिए, इस पर बात कर लें। यह तुलना किसलिए? क्या यह भी हमारी शिक्षा का, हमारी सामाजिक संस्कारबद्धता का हिस्सा नहीं है जो कहता है तरक्की करने के लिए हमें तुलना करनी चाहिए?-एक संगीतज्ञ की तुलना दूसरे से, एक चित्रकार की तुलना दूसरे से, इत्यादि। और हम सोचते हैं कि तुलना करने से हम समझना शुरू कर देते हैं। तुलना करने का मतलब होता है माप-जोख, जिसमें समय निहित है, विचार निहित है, और क्या रत्तीभर भी तुलना किये बिना जीना मुमकिन है? आप समझ रहे हैं? हम बड़े ही इस तरह से होते हैं, स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में अपनी शिक्षा के दौरान हमें सिखाया जाता है कि हम अपनी तुलना 'अ' से करें, जो कहीं ज़्यादा होशियार है, और उसके स्तर तक पहुँचने का प्रयास किया जाना ज़रूरी है—यह लगातार माप-जोख, लगातार तुलना और इसलिए लगातार नकल, जो कि सब यांत्रिक है, मशीनी है! तो क्या हम स्वयं यह पता लगा सकते हैं कि पूरी तरह से संवेदनशील होना, और इसलिए सजग होना संभव है भी, या नहीं?

प्रश्नकर्ता: क्या आप यह जान सकते हैं कि आप पूरी तरह से सजग हैं अथवा नहीं? क्या हम

अपनी सजगता के तईं सजग हो सकते हैं?
कृष्णमूर्ति: नहीं (हँसी)।

प्रश्नकर्ता: जब आप सजग नहीं होते हैं, उस अवस्था के प्रति आप सजग हो सकते हैं।
कृष्णमूर्ति: इसे अपने भीतर देखें, जुबानी तो यह अटकलबाजी हो जाती है। जब आप सजग होते हैं, तो क्या आपको मालूम होता है कि आप सजग हैं?

प्रश्नकर्ता नहीं।
कृष्णमूर्ति: पता लगाइए। जाँचिए, मैडम, इसके साथ परीक्षण कीजिए। जब आप खुश होते हैं, तो क्या यह आपको मालूम होता है? जिस पल आपको इस बात का भान होता है कि आप खुश हैं, वह खुशी खुशी नहीं रहती।

प्रश्नकर्ता: जब आपको दर्द होता है तो आपको मालूम रहता है।
कृष्णमूर्ति: वह एक अलग मसला है। जब मुझे दर्द होता है तो मैं उसे महसूस करता हूँ और मैं कुछ करता हूँ उस बारे में। सजग होने का यह एक हिस्सा है, अगर मुझे लकवा ही नहीं मार गया है—ज़्यादातर लोगों की हालत तो वही है, किन्हीं अन्य दिशाओं में!

तो हम अपने आप से पूछ रहे हैं, किसी और से नहीं पूछ रहे कि वह हमें बता दे, बल्कि, खुद से ही पूछ रहे हैं कि क्या सजगता की वह गुणवत्ता मौजूद है? क्या हम देखते हैं उस आसमान को, साँझ के उन सितारों को, उस चाँद को, उन पंछियों को, लोगों की प्रतिक्रियाओं को-उस सब को देखते हैं? और उस सजगता में और अवधान में, 'अवेयरनेस' और 'अटेन्शन' में अन्तर क्या है? क्या सजगता में कोई केंद्र होता है जहाँ से आप सजग होते हैं? जब मैं कहता हूँ, "मैं सजग हूँ", तब मैं एक केंद्र से गति करता हूँ, प्रकृति के तईं मेरी प्रतिक्रिया एक केंद्र से घटित होती है, वहीं से मैं अपने मित्रों, अपनी पत्नी, पति या जो कोई भी हो, उसकी ओर प्रतिक्रिया करता हूँ—उस केंद्र से जो मेरी संस्कारबद्धता, 'कंडीशनिंग' है, मेरे पूर्वाग्रह, मेरी इच्छाएँ, मेरे भय और शेष सब वही केंद्र तो है। तो सजगता में एक केंद्र होता है। अवधान में, 'अटेन्शन' में कोई केंद्र नहीं होता। अब दो मिनट ज़रा सुनिए। इस समय जो कहा जा रहा है उसे आप सुन रहे हैं, और आपका संपूर्ण अवधान, पूरा ध्यान इस पर है। जिसका मतलब है आप तुलना नहीं कर रहे हैं, आप ऐसा नहीं कह रहे हैं, "जो आप कहने जा रहे हैं, वह तो मुझे पहले से ही मालूम है", या, "जो आपने कहा है वह तो मैंने पढ़ रखा है", वगैरह, वगैरह। तो वह सब नहीं चल रहा अब, आप पूरी तरह से सावधान हैं, ध्यान दे रहे हैं, और इसलिए कोई केंद्र मौजूद नहीं है, और इस अवधान की कोई सीमा नहीं है। मालूम नहीं आपने इस पर कभी ध्यान दिया है या नहीं।

तो सजग होने पर यह पता चलता है कि हम प्रतिक्रिया करते हैं एक केंद्र से, किसी पूर्वाग्रह से, किसी निष्कर्ष से, किसी आस्था से, किसी संस्कार से जो कि वह केंद्र ही है। और उसी

केंद्र से आप प्रतिक्रिया करते हैं, वहीं से आपका जवाब आता है। और जब उस केंद्र के प्रति एक सजगता होती है, तो वह केंद्र हट जाता है, और उस स्थिति में विद्यमान होता है संपूर्ण अवधान, 'टोटल अटेन्शन'। मुझे अंदाज़ा नहीं कि आप इसे समझ पा रहे हैं या नहीं। और इसका आप कोई अभ्यास नहीं कर सकते; वह तो एकदम बचकानी बात हो जाएगी, यांत्रिक, मशीनी। तो अब हम दूसरे प्रश्न पर चलें: "क्या ऐसी कोई गतिविधि है, जो यांत्रिक नहीं है?" यानी कि, क्या मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है जो अयांत्रिक हो, मशीनी न हो? क्या आप इस पर बात करना चाहेंगे? नहीं, नहीं, देखिए, यह कोई खेल नहीं है। सबसे पहले तो हमें इस प्रश्न में जाना होगा कि यांत्रिक मन होता क्या है।

क्या यह मस्तिष्क-जिसे विकसित होने में सहस्त्राब्दियाँ लगी हैं—पूरी तरह से यांत्रिक है? या फिर, इस मस्तिष्क में एक हिस्सा ऐसा भी है जो यांत्रिक नहीं है, जो क्रमविकास की मशीन से अछूता रहा है? समझ रहे हैं आप?

प्रश्नकर्ता: यांत्रिक से आपका अर्थ क्या है?
कृष्णमूर्ति: जी, हम इसी पर चर्चा करने जा रहे हैं। इस यांत्रिक प्रक्रिया का एक हिस्सा है, संस्कारबद्धता के क्षेत्र के भीतर-भीतर कार्य करना। अर्थात जब मैं किसी प्रारूप, किसी नक्शे के अनुसार कर्म करता हूँ—वह प्रारूप चाहे कैथोलिक हो, प्रोटेस्टेन्ट हो, कम्यूनिस्ट हो, हिन्दू हो, या फिर और कुछ; वह प्रारूप चाहे समाज ने तय किया हो, पढ़ने-पढ़ाने से या दूसरे प्रभावों से बना हो, और उस प्रारूप या विश्वास को मैंने मान लिया हो-तब वह कर्म यांत्रिक प्रक्रिया का ही एक हिस्सा होता है। यांत्रिक प्रक्रिया का एक और हिस्सा है, असंख्य प्रकार के अनुभवों से गुज़रते हुए, जो यादें पीछे छूट जाया करती हैं, उन यादों के अनुरूप कर्म करना: यह यांत्रिक होता है। यह एक कंप्यूटर की तरह होता है, जो पूरी तरह से यांत्रिक है। वे लोग अब यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि यह उतना यांत्रिक नहीं है, लेकिन फिलहाल इसे हम यहीं छोड़ दें।

यांत्रिक कर्म, 'मैकेनिकल एक्शन' है परंपरा को मानना और उसका अनुसरण करना। इस परंपरा का एक पहलू किसी सरकार को, पुरोहितों को मान्य करना और उनकी हुक्मबरदारी है। और इस मस्तिष्क का वह यांत्रिक हिस्सा, विचार द्वारा खींची गयी किसी लकीर को चेतन अथवा अचेतन रूप से लक्ष्य और उद्देश्य मानकर उसी का अनुसरण कर रहा है। यही नहीं, और भी काफी कुछ यांत्रिक है; और हम इसी ढंग से जिया करते हैं।

प्रश्नकर्ता: क्या विचार अपने आप में ही यांत्रिक है?
कृष्णमूर्ति: बिलकुल, यही तो सारी बात है। पर इसका हमें अपने आप पता लगाना है, यह नहीं कि किसी दूसरे ने हमें बता दिया, वह तो फिर यांत्रिक हो जाता है। बल्कि हम अपने आप यह पता लगाएँ कि हमारा सोचना, हमारी भावना, हमारा रुख-रवैया, हमारी राय, यह सब किस कदर यांत्रिक है; हम इसके प्रति सजग हों। तात्पर्य यह कि विचार अपरिहार्य रूप

से यांत्रिक होता है—क्योंकि विचार प्रतिक्रिया है याद, अनुभव और जानकारी की, जो अतीत ही तो है। और अतीत के नक्शे-ढाँचे के मुताबिक प्रतिक्रिया करना यांत्रिक है, जो कि विचार है।

प्रश्नकर्ता: सारे के सारे विचार?
कृष्णमूर्ति: सारे विचार, निस्संदेह। चाहे वे श्रेष्ठ हों, निम्न हों, कामुक हों, या तकनीकी विचार हों, हैं ये सब विचार ही।

प्रश्नकर्ता: महान मनीषियों के विचार भी?
कृष्णमूर्ति: बिलकुल। ठहरिए, हमें इस प्रश्न को देखना होगा कि मनीषी अर्थात क्या। नहीं, अभी हम इसमें नहीं जाएँगे।

प्रश्नकर्ता: यदि सारे विचार यांत्रिक हुआ करते हैं, तो वह अभिव्यक्ति, जिसका आप अक्सर प्रयोग करते हैं, 'स्पष्ट विचारणा', 'क्लीयर थिंकिंग', उसमें कुछ विसंगति प्रतीत होती है।
कृष्णमूर्ति: नहीं, नहीं। स्पष्ट विचारणा के मायने हैं, स्पष्ट रूप से देखना; स्पष्ट विचारणा है स्पष्ट रूप से सोचना, वस्तुनिष्ठ ढंग से, स्वस्थ मस्तिष्क से, बुद्धिसंगत रीति से, समग्रतापूर्वक विचार करना।

प्रश्नकर्ता: वह तब भी विचार ही है।
कृष्णमूर्ति: तब भी विचार ही है, बिलकुल, यह तो है।

प्रश्नकर्ता: तो फिर इसका क्या उपयोग है? (हँसी)
कृष्णमूर्ति: यदि स्पष्ट विचारणा मौजूद होती, तो मैं किसी भी राजनीतिक दल से संबद्ध नहीं होता! हो सकता है मैं एक वैश्विक पार्टी बना लेता-वह एक अलग बात है।

प्रश्नकर्ता: क्या हम आपके उस प्रश्न पर लौटें कि क्या मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है जो संस्कारबद्धता से अछूता है?
कृष्णमूर्ति: ठीक है, सर; इसके लिए खूब ध्यान से, ठहरते हुए, तहकीकात करने की ज़रूरत है। न यह कहना है कि "हाँ, होता है", और न ही यह कहना है कि "नहीं, वैसा कुछ नहीं है", या "मैंने एक ऐसी अवस्था का अनुभव कर लिया है जिसमें यांत्रिकता है ही नहीं"-यह तो एकदम नासमझों वाली बात होगी। लेकिन वस्तुतः तहकीकात करने और पता लगाने के लिए आपको चाहिए महीन, सूक्ष्म नज़र, और सावधानी की खूबी, जिससे आप एक-एक कदम इसमें उतरें, फलाँग कर नहीं।

तो हम कहते हैं कि हमारा अधिकांश जीवन यांत्रिक है। सुख की दौड़ यांत्रिक होती है—किंतु हम दौड़े जा रहे हैं सुख के पीछे, मज़े के पीछे। अब हम पता कैसे लगाएँगे कि क्या इस मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है जो संस्कारों से नहीं बँधा? यह बहुत संजीदा प्रश्न है,

भावुकतावादी, रूमानी लोगों के लिए या जज़्बाती लोगों के लिए नहीं है यह; इसके लिए खूब स्पष्टता से विचार करने की आवश्यकता है। जब आप एकदम स्पष्टता से विचार कर पाते हैं, तो आप सोच-विचार की हदों को देख लेते हैं।

प्रश्नकर्ता: क्या हम उन अवरोधों को खूब स्पष्टता के साथ देखने जा रहे हैं, जो एक असंस्कारित मन से छेड़-छाड़ करते हैं?
कृष्णमूर्ति: नहीं, पहले तो हम साथ-साथ इस यांत्रिक मन को समझने या जाँचने का जतन कर रहे हैं। इसको पूरा का पूरा समझे बिना, आप उस अन्य को नहीं खोज सकते। हमने यह प्रश्न पूछा है: “क्या मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है, हमारे समूचे मन का हिस्सा-मन, जिसमें मस्तिष्क, भावनाएँ, स्नायुतंत्र की प्रतिक्रियाएँ शामिल हैं—जो कि पूरी तरह से यांत्रिक नहीं है?” जब मैं अपने आप से यह प्रश्न करता हूँ, तो हो सकता है मैं यह कल्पना कर लूँ कि मन पूरा का पूरा तो यांत्रिक नहीं है, क्योंकि मुझे उस अन्य की चाह है, और इस वजह से मैं खुद को धोखा दे रहा हूँ। मैं मान लेता हूँ कि मैंने उस अन्य को उपलब्ध कर लिया है। अतः मुझे इच्छा की गति को पूरी तरह से समझना होगा। आप इसे देख पा रहे हैं? इच्छा का दमन नहीं करना है, बल्कि उसे समझना है; उसमें अंतर्दृष्टि ज़रूरी है—जिसका अर्थ है भय को, समय को, और जिसके बारे में हम पहले चर्चा कर चुके हैं उस सब को समझना। तो अभी हम यह पड़ताल कर रहे हैं कि क्या हमारी सारी क्रियाएँ यांत्रिक हैं? अर्थात क्या मैं, क्या आप, यादों से चिपके हुए हैं? हिटलरकालीन और वे सारी यादें, कई किस्म के मज़ेदार और दर्दीले अनुभवों की यादें, कामवासना की तृप्ति की, और सुखों की तथा तरह-तरह की यादें। जिसका अर्थ हुआ: क्या हम अतीत में जी रहे हैं?

प्रश्नकर्ता: हमेशा, मैं तो ऐसे ही जी रहा हूँ।
कृष्णमूर्ति: बिलकुल! तो आप जो कुछ भी हैं वह अतीत ही है, जो कि यांत्रिक है। इसलिए जानकारी यांत्रिक है। आप देख रहे हैं इस चीज़ को?

प्रश्नकर्ता: इसे देखना इतना मुश्किल क्यों होता है?
कृष्णमूर्ति: इसलिए कि हम अपनी अंदरूनी प्रतिक्रियाओं के, सच में हमारे भीतर क्या चल रहा है उस सब के प्रति सजग नहीं हैं,-इस बात की कल्पना नहीं कि क्या चल रहा है, उसके बारे में अंदाज़ लगाना नहीं, और न ही किसी और की कही बात को दोहराना-बल्कि जो भी हो रहा है उसके प्रति सचमुच सजग होना।

प्रश्नकर्ता: क्या अनुभव हमें सजगता की राह नहीं दिखलाता?
कृष्णमूर्ति: नहीं। ज़रा ठहरिए। अनुभव से आपका क्या तात्पर्य है? इस शब्द का मतलब ही है, ‘में से गुज़रना’-गुज़रना, खत्म करना, न कि बनाए रखना। आपने मुझे कुछ कहा जिससे मुझे चोट पहुँची, और उसने इस मस्तिष्क पर एक निशान छोड़ दिया, और अब जब मैं आपसे मिलता हूँ तो वह याद प्रतिक्रिया करती है। ज़ाहिर-सी बात है। और, क्या यह मुमकिन

है कि जब आप मुझे यह चोट पहुँचाते हैं, कुछ ऐसा कहते हैं जो कठोर है, या न्यायोचित है, या हिंसक है, तो मैं उसका अवलोकन करूँ, उसे गौर से देखूँ-सुनूँ, और दर्ज न करूँ? करके देखिए, सर, इसे आप करके देखिए, आज़माइए इसे।

प्रश्नकर्ता: यह बहुत मुश्किल है, क्योंकि वह याद तो पहले से ही आहत है; हम उसे कभी नहीं भूलते।
कृष्णमूर्ति: इसे और करीब से देखें। बचपन से ही हम आहत होते हैं, यह हरएक के साथ होता है, स्कूल में, घर में, कॉलेज में, विश्वविद्यालयों में, पूरा समाज ही दूसरों को आहत करने की, चोट पहुँचाने की एक प्रक्रिया है। व्यक्ति को चोट पहुँचती है, और वह फिर उसी चोट के साथ जीता है, चेतन रूप से या अचेतन रूप से। तो इसमें दो समस्याएँ शामिल हैं: एक तो अतीत की चोटें जो मस्तिष्क में कायम हैं, दूसरा यह कि कहीं फिर से आहत न हों; आहत होने की वह तमाम स्मृति, और आगे कभी आहत न होना; तो क्या यह मुमकिन है?

प्रश्नकर्ता: यदि 'आप' वहाँ न हों तो।
कृष्णमूर्ति: इसकी गहराई में जाएँ। आप खुद ही इसे खोज लेंगे और पता लगा लेंगे। तो, आप आहत हुए हैं।

प्रश्नकर्ता: अपने बारे में मेरी छवि...
कृष्णमूर्ति: इसमें धीरे-धीरे उतरें। आहत होना क्या है, चोट क्या है? जो छवि आपने अपने बारे में बना रखी है, उसी को चोट पहुँची है। आपकी अपने बारे में छवि होती ही क्यों है? क्योंकि वह परंपरा है, हमारी शिक्षा का हिस्सा है, हमारी सामाजिक प्रतिक्रियाओं का हिस्सा है। मेरी अपने बारे में एक छवि है, और अपनी उस छवि से संबंधित एक छवि आपके बारे में है। इस तरह मेरे पास आधा दर्जन छवियाँ हैं, बल्कि और ज़्यादा हैं। और अपने बारे में जो मेरी छवि है, उसे चोट पहुँची है। आप मुझे बेवकूफ कहते हैं और मैं सहम कर पीछे हट जाता हूँ: उस छवि को चोट पहुँची। अब कैसे मैं उस चोट को मिटा डालूँ, और साथ ही ऐसा भी हो कि भविष्य में, कल, या अगले ही क्षण मुझे फिर चोट न पहुँचे? क्या आप प्रश्न समझ रहे हैं? इसमें दो समस्याएँ शामिल हैं। एक तो यह कि मैं आहत हुआ हूँ और उससे तमाम झक्कीपन वाली हरकतें, प्रतिरोध, अपने आप को बचाना, डर-ये सब पैदा होते हैं; अतीत की उस चोट में यह सब समाविष्ट है। और दूसरी बात यह कि ऐसा किस तरह हो कि फिर कभी मैं आहत न हो पाऊँ।

प्रश्नकर्ता: यहाँ पूरी तरह संजीदा होने की ज़रूरत है।
कृष्णमूर्ति: इसे देखिए और आपको स्पष्ट हो जाएगा। आप आहत हुए हैं, है न?-मैं आपको व्यक्तिगत रूप से नहीं कह रहा हूँ—और आप प्रतिरोध करते हैं, आप भयभीत हैं कि कहीं आप और आहत न हों। तो आप अपने इर्द-गिर्द एक दीवार खड़ी कर लेते हैं, अपने आप को अलग-थलग कर लेते हैं और इस अलगाव का चरम रूप है समस्त संबंध से पूरी तरह तिनका

तोड़ लेना। और आप उसी हाल में रहने लगते हैं; किंतु आपको जीना तो होगा, कर्म तो करना होगा। तो आप हमेशा उस केंद्र से कर्म कर रहे होते हैं जो आहत है और इसलिए असंतुलित रीति से बरत रहा है। आप यह दुनिया में होता देख सकते हैं, और अपने आप में भी। और ऐसा कैसे हो कि वे चोटें पूरी तरह से मिट जाएँ और उनका कोई निशान तक न रहे? और यह भी कि किस तरह भविष्य में बिलकुल भी आहत न हों? प्रश्न स्पष्ट है, है न?

अब इस प्रश्न के साथ आप कैसे पेश आएँगे? चोटों को मिटाना कैसे है, या कतई आहत कैसे नहीं होना है? इनमें से कौन-सा प्रश्न आप स्वयं से करेंगे, इनमें से किसका आप जवाब चाहते हैं? सारी चोटें मिट जाएँ, या और कोई चोट न पहुँचे? सहज रूप से कौन-सा प्रश्न उठता है आपके भीतर?

प्रश्नकर्ता: और कोई चोट न पहुँचे।
कृष्णमूर्ति: तो प्रश्न यह है: “क्या आहत न होना संभव है?” जिसका अर्थ हुआ: क्या यह संभव है कि आपकी अपने बारे में कोई छवि न हो?

प्रश्नकर्ता: यदि हमें दिखे कि वह छवि झूठ है...
कृष्णमूर्ति: झूठ या सच नहीं। क्या आप यह नहीं देख रहे कि उस दिशा में तो आप विचार के क्षेत्र में ही काम कर रहे होते हैं? क्या यह संभव है कि आपकी अपने बारे में या किसी और के बारे में छवि हो ही नहीं, सहज ही? और यदि कोई छवि नहीं है, तो क्या वही सच्ची स्वतंत्रता नहीं होगी? आप नहीं देख पा रहे इसे!

प्रश्नकर्ता: सर, यदि आपके साथ जो होता है उसका आपके लिए कोई महत्त्व नहीं है, तब तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा और इससे आपको कोई चोट नहीं पहुँचेगी। यदि आप अपनी आत्म-महत्ता से मुक्त होने में सफल हो चुके हों...
कृष्णमूर्ति: इन सज्जन का कहना है कि यदि आप अपनी आत्म-महत्ता से, अपनी आक्रामकता से, अपने दंभ से छुटकारा पा सकें, तो आप आहत नहीं होंगे। पर मैं उस सारे कबाड़ से कैसे छुटकारा पाऊँ जिसे मैंने ही इकट्ठा किया है?

प्रश्नकर्ता: मेरे विचार से आप इससे छुटकारा पा सकते हैं यदि आप अपने भौतिक शरीर, अपनी सोच तथा खुद अपने आप के बीच संबंध के प्रति पूरी तरह से सजग रहें। अब आप कैसे नियंत्रित कर पाते हैं अपने भौतिक शरीर तथा...
कृष्णमूर्ति: मैं अपने शरीर, अपने मन, अपनी भावनाओं, किसी को भी नियंत्रित नहीं करना चाहता। वह तो एक पारंपरिक, यांत्रिक प्रतिक्रिया होगी; माफ कीजिएगा! (हँसी)

इस पर थोड़ा गौर करिए, और आप खुद ही देख लेंगे। पहली बात यह कि छवि से मुक्त होने के विचार में एक ऐसी सत्ता निहित है जो कि उस छवि से भिन्न है। वैसा हो, तो वह सत्ता उस

छवि को खदेड़ सकती है। किंतु क्या वह छवि उस सत्ता से भिन्न है, जिसका कहना है, "मुझे इस छवि से मुक्त होना ही है"? वे दोनों एक ही हैं, इसलिए नियंत्रण वाली कोई बात वहाँ है ही नहीं। देख रहे हैं आप यह? जब आप यह देख लेते हैं, तो आप अब यंत्र की तरह काम नहीं कर रहे होते।

प्रश्नकर्ता: निश्चित रूप से, एक छवि को नष्ट करते ही हम तत्काल दूसरी छवि निर्मित कर लेते हैं?
कृष्णमूर्ति: हम यह पता लगाने जा रहे हैं कि क्या सभी छवियों से मुक्त होना संभव है, सिर्फ मौजूदा छवियों से ही नहीं बल्कि भविष्य की सब छवियों से भी। अब, मन खुद के बारे में छवि क्यों बनाता है? मैं कहता हूँ कि मैं ईसाई हूँ, यह एक छवि है। मैं उद्धारकर्ता में, क्राइस्ट में विश्वास रखता हूँ, उस सारे रस्म-दस्तूर में विश्वास रखता हूँ, क्यों? क्योंकि वह मेरा संस्कार है। भारत जाइए और वे कहते हैं, "आप किसके बारे में बात कर रहे हैं, क्राइस्ट के? मेरे पास अपने देवी-देवता हैं, यदि बेहतर नहीं, तो उतने ही बढ़िया" (हँसी)। तो यह उनका संस्कार है। यदि मैं रूस में पैदा हुआ हूँ और मेरी पढ़ाई वहाँ हुई है तो मैं कहता हूँ, "मैं इनमें से किसी पर भी विश्वास नहीं रखता। राज्य मेरा ईश्वर है और मार्क्स पहला पैगंबर, इत्यादि।" तो छवि का निर्माण होता है प्रचार, संस्कार तथा परंपरा के ज़रिये।

प्रश्नकर्ता: क्या यह बात इस तथ्य से जुड़ी है कि भय के कारण व्यक्ति किसी खास ढंग से व्यवहार करने लगता है जो कि उसके लिए सहज-स्वाभाविक नहीं है; और इसलिए वह व्यक्ति वही नहीं होता जैसा कि वह सचमुच है? और इसी से वह छवि बनती है जिसकी आप बात कर रहे हैं।
कृष्णमूर्ति: छवि वही तो है जिसे हम 'खुद' कहा करते हैं: "मुझे खुद को अभिव्यक्त करना है", "मुझे खुद को परितुष्ट करना है"। यह 'खुद' ही वह छवि है जिसे उस परिवेश व संस्कृति के अनुरूप गढ़ा गया है जिसमें उसका जन्म हुआ है। अमेरिका में, रेड इंडियनों के बीच, एक ऐसी जनजाति थी कि यदि उनमें से किसी की खुद के बारे में कोई छवि होती थी तो उसे मार दिया जाता था, (हँसी) खत्म कर दिया जाता था, क्योंकि छवि का होना महत्त्वाकांक्षा और उस तरह की चीज़ों की तरफ ले जाता था। पता नहीं क्या होता, अगर उन्होंने हम सब के साथ भी ऐसा ही किया होता। बड़ी प्यारी दुनिया होती, है न? (हँसी)

तो क्या यह संभव है कि छवियाँ बिलकुल न बनाएँ? अर्थात, मुझे भान है कि मेरी एक छवि है, जो बनी है संस्कृति, प्रचार, परंपरा, परिवार, और उस सारे दबाव के चलते।

प्रश्नकर्ता: हम ज्ञात से चिपके रहते हैं।
कृष्णमूर्ति: वह ज्ञात ही है, परंपरा वह ज्ञात ही है। और मेरा मन डरा हुआ है उस ज्ञात को जाने देने से, उस छवि को छोड़ने से, क्योंकि जिस पल वह उसे छूटने देता है, हो सकता है वह समाज में किसी लाभकर ओहदे को, अपनी हैसियत को खो बैठे, हो सकता है उसका

कोई खास संबंध टूट जाए; इसलिए वह डरा हुआ है और उस छवि को पकड़े रहता है। और वह छवि बस शब्द ही शब्द है, उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। वह सिर्फ शब्दों की शृंखला है, इन शब्दों पर की जाने वाली प्रतिक्रियाओं की, विश्वासों की शृंखला है, जो सब शब्द ही हैं। मैं मार्क्स में, क्राइस्ट में, या कृष्ण में विश्वास करता हूँ या और कुछ जिस पर भारत में वे विश्वास करते हैं। ये सब सैद्धांतिक जामा पहने हुए शब्द भर हैं। और अगर मैं शब्दों का गुलाम नहीं हूँ, तब वह छवि लुप्त होनी शुरू हो जाती है। क्या आप देख रहे हैं कि गहराई से जड़ पकड़े शब्द किस कदर महत्त्वपूर्ण बन चुके हैं।

प्रश्नकर्ता: जो आप कह रहे हैं उसे यदि कोई सुन रहा है और यह महसूस करता है कि उसकी अपने बारे में एक छवि है, और कि उसकी उस अपनी छवि और स्वतंत्रता के आदर्श के बीच एक बड़ी विसंगति है...
कृष्णमूर्ति: यह कोई आदर्श नहीं है...

प्रश्नकर्ता:...स्वयं स्वतंत्रता...फिर यह ज्ञात होने पर, कि ऐसी एक विसंगति है, क्या वह स्वतंत्रता के बारे में सोच सकता है, यह जानते हुए कि यह तो सिर्फ एक धारणा है?
कृष्णमूर्ति: क्या स्वतंत्रता एक अमूर्त चीज़, शब्द भर है, या यह एक सच्चाई है?

प्रश्नकर्ता: यह संबंधों से स्वतंत्र हो जाना है, क्या ऐसा नहीं है?
कृष्णमूर्ति: नहीं, देखिए, हम एक विषय से दूसरे में छलाँग लगा रहे हैं। कदम-दर-कदम आगे बढ़ें। हमने शुरुआत की थी इस प्रश्न से कि क्या मस्तिष्क का कोई हिस्सा है, उस पूरी हस्ती का कोई हिस्सा है, जो संस्कारग्रस्त नहीं है? हमने कहा कि संस्कारित होने का अर्थ है छवि बनाना; वह छवि जो आहत होती है, और वह छवि जो आहत होने से अपना बचाव करती है। और हमने यह कहा कि स्वतंत्रता केवल तब है—उस अवस्था की असलियत; वह शब्द नहीं, कोई हवाई ख्याल नहीं-जब कोई छवि नहीं होती, वही स्वतंत्रता है। जब मैं हिन्दू नहीं होता, बौद्ध नहीं होता, ईसाई, कम्यूनिस्ट, सोशलिस्ट कुछ नहीं होता, तब मुझ पर कोई लेबल नहीं होता और इसलिए भीतर भी कोई लेबल नहीं होता। तो क्या यह संभव है कि छवि बिलकुल हो ही नहीं? और ऐसा होता किस तरह से है?

प्रश्नकर्ता: क्या इस सब का उस गतिविधि से संबंध नहीं है...
कृष्णमूर्ति: देखिए, हम एक बिंदु तक पहुँचते हैं और फिर किसी दूसरी तरफ चल पड़ते हैं। हम पता यह लगाना चाह रहे हैं कि इस संसार में एक भी छवि के बिना जीवन जीना संभव है अथवा नहीं।

प्रश्नकर्ता: जब कोई अवलोकनकर्ता नहीं होता है, तो अवलोकन के लिए कुछ होता ही नहीं, और तो भी इस मौन में व्यक्ति का एक ऐसी अवस्था से सामना होता है...
कृष्णमूर्ति: मैडम, क्या यह हकीकत है कि आपके जीवन में अवलोकनकर्ता नहीं है—कभी-

कभार की बात नहीं?

तो क्या उस छवि से मुक्त होना संभव है, जिसे समाज ने, परिवेश ने, संस्कृति ने, शिक्षा ने हमारे भीतर खड़ा किया है? क्योंकि हम वही सब कुछ तो हैं; आप परिणाम हैं अपने माहौल, अपनी संस्कृति का, अपने ज्ञान, अपनी शिक्षा, अपने व्यवसाय का, अपने सुख का, यह सब आप ही हैं।

प्रश्नकर्ता: बिना किसी केंद्र के हमारी उस बोध-क्षमता का क्या होगा जिससे हमें ज्ञात होता है कि हम हैं कहाँ?
कृष्णमूर्ति: यह सब तो थोड़ा बाद में आएगा, नहीं?

प्रश्नकर्ता: यदि आप अपनी संस्कारबद्धता के प्रति सजग हों तो क्या आप उससे मुक्त हो जाते हैं?
कृष्णमूर्ति: अब, क्या आप सच में सजग हैं, सैद्धांतिक या वायवीय तौर पर नहीं, बल्कि असलियत में सजग हैं कि आप इस तरह संस्कारबद्ध हैं, और इसलिए आपने अपनी छवि बना रखी है?

प्रश्नकर्ता: यदि आपकी वह छवि न हो, तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि आपकी जगह क्या है।
कृष्णमूर्ति: "यदि आपकी वह छवि न हो, तो आपको पता नहीं चलेगा कि आपकी जगह क्या है।" ध्यान से सुनिए इस बात को। अगर आपकी कोई छवि नहीं है, तो इस संसार में आपकी कोई जगह नहीं है। जिसका अर्थ हुआ कि यदि आपकी छवि नहीं है तो आप असुरक्षित हैं। एक-एक कदम करके चलें। तो क्या आप, जिसकी संसार में एक जगह है, सुरक्षित हैं?

प्रश्नकर्ता: नहीं।
कृष्णमूर्ति: अपने यथार्थ में रहें।

प्रश्नकर्ता: जब आप देखते हैं कि जिस छवि को आपने बनाया है, जिससे आपका जुड़ाव है, जब आप देखते हैं कि वह सिर्फ शब्दों का ढेर है...
कृष्णमूर्ति: आप शब्द में सुरक्षा ढूँढ़ रहे हैं: और यह सुरक्षा है ही नहीं। हम शब्दों में रहते आये हैं और उन शब्दों को हमने गज़ब वास्तविकता का रंग दे डाला है। तो अगर आप सुरक्षा खोज रहे हैं, तो वह किसी छवि में नहीं है; यह आपके परिवेश, आपकी संस्कृति में नहीं है। किसी को भी सुरक्षा तो चाहिए ही, वह तो अनिवार्यता है, रोटी, कपड़ा और छत ज़रूरी हैं; वह तो चाहिए ही, नहीं तो हम काम ही नहीं कर सकते। और इस सुरक्षा से मुझे पूरी तरह से वंचित होना पड़ता है, जब मैं किसी क्षुद्र समूह से जुड़ जाता हूँ। जब मैं कहता हूँ कि मैं जर्मन

हूँ, या रूसी हूँ, या अंग्रेज़ हूँ, तब मैं संपूर्ण सुरक्षा को नकार रहा होता हूँ। मैं सुरक्षा को नकार देता हूँ क्योंकि शब्द और लेबल मेरे लिए महत्त्वपूर्ण बन गये हैं, सुरक्षा नहीं। यही तो है जो वस्तुतः हो रहा है, अरब और इज़रायली दोनों को सुरक्षा चाहिए, और दोनों ही शब्दों और उस तरह की बाकी बातों को तरजीह दे रहे हैं।

तो अब हम इस मुद्दे पर आते हैं। क्या इस संसार में छवि के बिना जीवन जीना संभव है, यह नहीं कि भ्रांतियों के किसी कल्पनालोक में, या किसी मठ-आश्रम में जा पहुँचें, बल्कि क्या हम इसी संसार में जी सकते हैं एक भी छवि के बगैर, और पूर्ण रूप से सुरक्षित हो सकते हैं?

प्रश्नकर्ता: हम एक बीमार समाज में किस तरह सुरक्षित हो सकते हैं?
कृष्णमूर्ति: मैं इस पर अभी और बात करने वाला हूँ, मैडम, मैं इसे दर्शाने जा रहा हूँ आपको।

प्रश्नकर्ता: यह समाज होड़ में लगा है, कुटिल है।
कृष्णमूर्ति: साथ-साथ चलिए, मैं आपको दिखाने जा रहा हूँ कि एक संपूर्ण सुरक्षा होती है, सुनिश्चित सुरक्षा; पर वह छवियों में नहीं है।

प्रश्नकर्ता: प्रत्येक क्षण पूरी तरह से सजग रहना है, तब आपकी संस्कारबद्धता का वजूद नहीं रहता।
कृष्णमूर्ति: अगर आप सजग हैं, तब नहीं। क्या आप सजग हैं कि आपकी एक छवि है और उस छवि को रूप दिया है इस संस्कृति ने, इस समाज ने? क्या आप उस छवि के प्रति सजग हैं? आपको उस छवि का पता संबंध में चलता है, है कि नहीं? अब हम अपने आप से पूछ रहे हैं कि क्या छवियों से मुक्त होना संभव है? मतलब यह कि जब आप मुझे कुछ ऐसा कहते हैं, जो अभद्र है, ठेस पहुँचाने वाला है, उस क्षण पूरी तरह से सजग होना, जो आप कह रहे हैं उसके प्रति, और मुझमें से जिस तरह से जवाब आ रहा है उसके प्रति भी। हर्षित करने वाली और खिन्न करने वाली दोनों तरह की छवियों के प्रति पूरी तरह से सजग होना, आंशिक तौर पर नहीं, बल्कि पूर्णतः सजग रहना। जब आपकी तौहीन या तारीफ हो रही हो और आपके भीतर से प्रतिक्रिया आ रही हो-उस क्षण में पूर्णरूपेण सजग रहना। तब, उस क्षण आप कोई छवि नहीं बना रहे होते। मस्तिष्क में तब वह ठेस, वह तौहीन या वह खुशामद दर्ज ही नहीं होती, और इसलिए कोई छवि भी नहीं बनती। इसके लिए उस क्षण प्रखर अवधान की, पूरी तरह से ध्यान देने की दरकार होती है, और यह माँग करता है गहन आंतरिक प्रत्यक्ष बोध की, 'परसेप्शन' की, जो केवल तभी संभव है जब आपने इसे देखा हो, इसका अवलोकन किया हो, जब आपने इस पर काम किया हो। बस इतना कहके मत रह जाइए, "ठीक है, बताइए मुझे इसके बारे में; मुझे राहत चाहिए, आराम चाहिए।"

प्रश्नकर्ता: वह कौन है, जो इस सब को देखता है?

कृष्णमूर्ति: अब, कौन है जो इस सब को देखता है? यदि कोई देखने वाला है, तब तो उस छवि की निरंतरता बनी रहेगी। यदि कोई देखने वाला, अवलोकनकर्ता नहीं है, तब छवि नहीं है। अवधान की, 'अटेन्शन' की उस स्थिति में, उस ठेस और उस खुशामद दोनों का अवलोकन तो होता है, उन पर प्रतिक्रिया नहीं होती। आप अवलोकन तभी कर सकते हैं जब अवलोकन करने वाला, देखने वाला न हो, जो कि अतीत है। वह अतीत अवलोकनकर्ता ही तो है जिसे ठेस लगती है। जब कोई हमारी खुशामद या तौहीन कर रहा हो और उसका सिर्फ अवलोकन किया जा रहा हो, तो बात खत्म हो जाती है। और यही यथार्थ स्वतंत्रता है।

अब इसे समझें। आपका कहना है: इस संसार में यदि आपकी कोई छवि न हो तो आप सुरक्षित नहीं रह पाएँगे। हमने वस्तुओं में, मकान में, जायदाद में, बैंक खाते में सुरक्षा खोज रखी है, इसी को हम सुरक्षा कहा करते हैं। और हमने किसी विश्वास में भी सुरक्षा खोज रखी है। यदि मैं इटली में रहता हूँ और कैथोलिक हूँ, तो मैं उस पर विश्वास करता हूँ; जिस पर दस हज़ार लोगों का विश्वास है, उस पर विश्वास करना कहीं ज़्यादा सुरक्षित है! वहाँ मेरे लिए जगह है। और जब मेरे विश्वास पर सवाल उठाया जाता है तो मैं प्रतिरोध करता हूँ।

तो क्या इस सबके प्रति, एक समग्र सजगता हो सकती है? ऐसा मन बेहतरीन ढंग से क्रियाशील होता है, आप समझ रहे हैं? सिर्फ यह कह देने की बात नहीं है, कि "मुझे सजग होना है", "मुझे यह सीखना है कि सावधान कैसे रहते हैं"। तो आपमें ज़बरदस्त क्रियाशीलता होती है, यह मस्तिष्क जीवंत होता है। तब हम उससे आगे बढ़ सकते हैं यह पता लगाने के लिए कि क्या इस मस्तिष्क में कोई ऐसा हिस्सा है जो कतई संस्कारबद्ध न हो, मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा जो अयांत्रिक हो, जो मशीनी न हो। यहाँ मैं एक गलत प्रश्न कर रहा होता हूँ, मुझे मालूम नहीं कि आप इसे देख पा रहे हैं या नहीं। देखिए इसको, फुर्ती से। सुनिए ज़रा दो पल; भीतर जैसे एक लपट है। यदि कोई छवि है नहीं, जो कि यांत्रिक, मशीनी ही हुआ करती है, और उस छवि से अबद्धता है, मुक्ति है, तो उस मस्तिष्क का कोई हिस्सा ऐसा नहीं है जो संस्कारबद्ध रहा हो। पूर्ण विराम! तब मेरा समग्र मस्तिष्क असंस्कारित है, 'अनकंडीशन्ड' है।

प्रश्नकर्ता: उसमें एक लपट है!
कृष्णमूर्ति: जी, इसलिए वह अयांत्रिक है और उसमें एक पूर्णतः भिन्न प्रकार की ऊर्जा है, यांत्रिक ऊर्जा नहीं। देख रहे हैं आप इसे? मेहरबानी करके इसे कोई अमूर्त, सैद्धांतिक चीज़ न बना लें, नहीं तो ये बस शब्द बन कर रह जाएँगे। किंतु यह देख पाना कि आपका मस्तिष्क सदियों-सदियों से संस्कारित होता रहा है, यह कहते हुए कि जीवित रहना ही तभी संभव है अगर आपकी अपनी कोई छवि हो, जिसे उस घेरे ने बनाया हो जिसमें आप रहा करते हैं और वह घेरा ही आपको पूरी सुरक्षा देता है। हमने इसे परंपरा के रूप में मान्य कर लिया है और उसी ढंग से हम जीते हैं। मैं अंग्रेज़ हूँ, मैं बाकी सबसे बेहतर हूँ, या फ्रांसीसी हूँ, या जो कुछ भी हूँ। तो मेरा मस्तिष्क संस्कारबद्ध है, मुझे नहीं मालूम कि पूरा का पूरा, या आंशिक रूप

से; मैं तो बस इतना जानता हूँ कि यह संस्कारों में जकड़ा है। किसी संस्कारमुक्त अवस्था की कोई तहकीकात नहीं हो सकती, जब तक कि यह संस्कारबद्धता अस्तित्वरहित न हो जाए। तो मेरी सारी तहकीकात का मकसद यह पता लगाना है कि क्या मन को संस्कारों की जकड़न से आज़ाद किया जा सकता है, न कि उस अन्य में कूद पड़ना, क्योंकि वह तो निहायत बेवकूफी की बात हो जाएगी। आस्था, शिक्षा, वह संस्कृति जिसमें मैं रहा-जिया हूँ, हरएक चीज़ मुझे संस्कारित करती रही है, और इस अवस्था के प्रति पूरी तरह से सजग रहना, इसे दरकिनार नहीं करना, इसका दमन नहीं करना, इसे नियंत्रित नहीं करना, अपितु इसके प्रति पूर्णतः सजग रहना। तब आपको पता चल पाएगा-यदि आप उतनी दूर तक जा चुके हैं—कि केवल न-कुछ होने में, 'नथिंग' होने में ही सुरक्षा है।

प्रश्नकर्ता: प्रजातीय पूर्वाग्रहों की छवियों के बारे में क्या होता है? क्या आप किसी समुदाय के हिस्से होते हैं? मैं आपसे बिलकुल सहमत हूँ। आप कोई मानसिक छवि नहीं चाहते हैं, किंतु शारीरिक रूप से बने रहने के लिए आपको एक शारीरिक छवि तो चाहिए ही... यदि आप उसे छोड़ना भी चाहें, तो भी हर कोई उसे आपके ऊपर थोपता ही है।
कृष्णमूर्ति: सर, यदि हम शारीरिक रूप से बना रहना, जीवित रहना चाहते हैं, तो क्या चीज़ है जो उसमें रुकावट डाल रही है? वे सारे मानसिक अवरोध जो मनुष्य ने ही रचे हैं। तो उन सभी मानसिक अवरोधों को हटा डालिए और आप पाएँगे कि आपको संपूर्ण सुरक्षा उपलब्ध है।

प्रश्नकर्ता: नहीं, क्योंकि कोई और आपको इसमें लपेट लेता है, आप खुद नहीं।
कृष्णमूर्ति: कोई आपको कैदखाने में नहीं डाल सकता।

प्रश्नकर्ता: वे आपको मार डालते हैं।
कृष्णमूर्ति: तब वे आपको मार डालते हैं, ठीक है (हँसी)। तब आपको पता चलेगा कि मृत्यु से कैसे मिलते हैं (हँसी)। यह कल्पना नहीं कि जब आपकी मृत्यु होगी तो आप कैसा महसूस करने वाले हैं—वह तो बस एक और छवि हो जाएगी। ओहो, मालूम नहीं मुझे कि आप यह सब देख भी पा रहे हैं!

तो आपको मानसिक रूप से कोई कैदखाने में नहीं डाल सकता। आप तो पहले से ही वहाँ हैं (हँसी)। हम आपका ध्यान इस तरफ दिला रहे हैं कि छवियों से, जो कि हमारी संस्कारबद्धता का नतीजा हैं, पूरी तरह से मुक्त होना संभव है। और जीवनी के बारे में पूछे गये प्रश्नों में से एक में यही बात उठायी गयी है। वह किशोर बालक, चाहे जो भी रहा हो वह, ऐसा कैसे हुआ कि वह किसी भी मोड़ पर संस्कारबद्ध, 'कंडीशन्ड' हुआ ही नहीं? मैं इस मसले में नहीं जाऊँगा क्योंकि यह बहुत पेचीदा सवाल है। अगर कोई अपनी खुद की संस्कारबद्धता के प्रति सजग है तो सारी बात एकदम सहज हो जाती है। तब मनीषी, 'जीनियस' के पूरी तरह से अलग मायने होते हैं। और यहाँ यह प्रश्न शेष रह जाता है: सृजन क्या है?

7

दूसरा संवाद

"जो कुछ भी आपमें सच में चल रहा है, क्या आप उसका सामना कर रहे हैं स्वयं में? और क्या आप किसी अन्य को भी देख सकते हैं, अतीत को बीच में लाए बिना उसका अवलोकन कर सकते हैं, उन सारी संचित स्मृतियों, अपमानों और चोटों की स्मृतियों के बिना, ताकि आप उसे स्वच्छ-स्पष्ट आँखों से देख सकें?"

प्रश्नकर्ता (1): आप इस पर बात करने वाले थे कि सृजन क्या है; क्या आप सृजनशील प्रज्ञा के बारे में कुछ कहेंगे?
प्रश्नकर्ता (2): पुनर्जन्म के विश्वास में क्या कोई सच्चाई है? और एक ध्यानपूर्ण मन की प्रकृति और गुणवत्ता क्या होती है?
प्रश्नकर्ता (3): आदतों को नकारने और उनका दमन करने में अंतर क्या है?
प्रश्नकर्ता (4): आप कह रहे थे कि मन संतुलित रूप से कार्य करे इसके लिए हमें भली-भाँति सुरक्षा, भोजन और आश्रय की आवश्यकता होती है। यह बात तर्कसंगत लगती है। किंतु ऐसा लगता है कि इस सुरक्षा को पाने का प्रयास करने के लिए व्यक्ति का सामना तमाम भयावहताओं और दिक्कतों से होता है, जिससे यह सारी चीज़ बहुत ही मुश्किल और कभी-कभी तो असंभव बन जाती है। इस संदर्भ में सही कर्म क्या है?
कृष्णमूर्ति: मैं इसे समझ नहीं पाया।

प्रश्नकर्ता: इस मूलभूत सुरक्षा को प्राप्त करने के लिए हमें जीना किस तरह से होगा, इससे जुड़े इस सारे उपद्रव में हिस्सा लिए बिना।
कृष्णमूर्ति: आप पूछ रहे हैं, एक अस्तव्यस्त, अराजक संसार में, जहाँ कोई सुरक्षा नहीं है लेकिन फिर भी व्यक्ति के लिए सुरक्षा तो ज़रूरी है, सही कर्म क्या है। हमें करना क्या होगा? क्या यही प्रश्न है?

प्रश्नकर्ता (5): मेरा एक प्रश्न है जिसे जब भी मैं खुद से पूछता हूँ, तो मैं अपने आप को

हमेशा एक बंद गली में पाता हूँ। मैं कहता हूँ, मैं अवलोकनकर्ता हूँ और मैं अवलोकनकर्ता को उसकी समग्रता में देखना चाहूँगा। मैं इस पूरे अवलोकनकर्ता को नहीं देख सकता, क्योंकि मैं सिर्फ खंडों में, टुकड़ों में देख सकता हूँ। तो अवलोकनकर्ता अपने आप को समग्रता में कैसे देखे, जब तक कि वह अवलोकनकर्ता रहे ही नहीं? देखने वाला उस देखने वाले को कैसे देख सकता है बिना किसी देखने वाले के?
कृष्णमूर्ति: हम अवलोकनकर्ता को पूर्ण रूप से कैसे देख सकते हैं; और क्या अवलोकनकर्ता स्वयं को अवलोकनकर्ता की भूमिका में देख सकता है? क्या यही प्रश्न है?

प्रश्नकर्ता (6): बात अवलोकन के दौरान मन की अवस्था के बारे में है। जब वह मौका आता है, तब वह क्या चीज़ होती है जो हमें यह देखने से रोक देती है कि अवलोकन करने वाला उससे भिन्न नहीं है जिसका वह अवलोकन कर रहा है? उस क्षण, उस बिंदु पर, अवधान की, 'अटेन्शन' की कमी जान पड़ती है, किंतु उस अवधान के लिए ज़बरदस्त जीवंतता की दरकार होती है, जिसका हममें अभाव होता है।
कृष्णमूर्ति: क्या मैंने प्रश्न को सही तरह से समझा है? हमारे पास समग्र रूप से अवलोकन करने के लिए पर्याप्त ऊर्जा नहीं है। यही है क्या?

प्रश्नकर्ता: जी।
कृष्णमूर्ति: तो इन प्रश्नों में से कौन से प्रश्न पर हम लोग चर्चा करें?

प्रश्नकर्ता (7): क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूँ? क्या संकल्पशक्ति से आया कोई कर्म-मेरे ख्याल से आप उसे घर्षण का कर्म कहते हैं—क्या वह इस जीवंतता अथवा आवेग को उत्पन्न कर सकता है?
कृष्णमूर्ति: क्या संकल्प स्पष्ट रूप से देख पाने के लिए पर्याप्त ऊर्जा उत्पन्न कर सकता है? ठीक?

प्रश्नकर्ता: हाँ।

प्रश्नकर्ता (8): सम्मोहन के दौरान मस्तिष्क और विचार की प्रक्रिया के साथ क्या होता है? चिकित्सकीय कारणों से हम सम्मोहन का इस्तेमाल करते हैं। उस खास स्थिति में विचार की प्रक्रिया क्या होती है?
कृष्णमूर्ति: अब बहुत सारे प्रश्न हो गए हैं। तो शुरुआत कहाँ से करें? अवलोकनकर्ता से?

प्रश्नकर्ता: हाँ।
कृष्णमूर्ति: अवलोकनकर्ता को उसकी समग्रता में देखने के लिए हमें ऊर्जा की दरकार होती है, तो उस ऊर्जा को लाएँ कैसे? उस ऊर्जा को अर्जित कैसे करें? और क्या वह ऊर्जा उस अवलोकनकर्ता की प्रकृति तथा संरचना की संपूर्णता को प्रकट कर देगी? क्या हम इस पर

चर्चा करें? और क्या होती है उस मन की गुणवत्ता, उसकी खूबी, जिसमें ध्यान की यह प्रक्रिया विद्यमान हो? मानसिक तल पर, किसी चीज़ को हम उसके पूरेपन में कैसे देखें? हम अपने तईं समग्रता से सजग कैसे हों? क्या हम इससे शुरुआत करें?

प्रश्नकर्ता: निश्चित ही, हम उस समग्रता के प्रति सजग तभी हो सकते हैं, जब हम खुद को खो दें।
कृष्णमूर्ति: जी हाँ, सर। क्या अपनी प्रतिक्रियाओं की, उन प्रयोजनों, उन डरों, उन चिंताओं, उन दुःखों, उस दर्द, उस सब की समग्रता का अवलोकन करना संभव है? या इन्हें बस खंडों में, परतों में ही देखा जा सकता है? क्या हम इस पर बात करें? अपनी चेतना की अंतर्वस्तु के प्रति, उस चेतना में जो कुछ मौजूद है, उसके प्रति हम कैसे सजग हों?

चेतना क्या है? आपके विचार से, चेतना क्या है—सम्मोहन की हालत में, और सम्मोहित न होने की अवस्था में भी? हममें से ज़्यादातर लोग तो सम्मोहित ही हैं—शब्दों द्वारा सम्मोहित, प्रचार द्वारा, परंपरा द्वारा, उन तमाम चीज़ों द्वारा सम्मोहित जिनमें हमारा विश्वास है। हम केवल बाहरी प्रभावों द्वारा ही सम्मोहित नहीं होते, बल्कि किसी चीज़ में विश्वास करने या न करने इत्यादि हेतु स्वयं को सम्मोहित कर लेने की हमारी खुद की भी एक निजी सम्मोहन प्रक्रिया है। तो क्या हम अपनी चेतना की समग्रता को देख सकते हैं? आइए, इसकी तहकीकात करें।

प्रश्नकर्ता: अवलोकनकर्ता, द्रष्टा इसे नहीं देख सकता।
कृष्णमूर्ति: हम यह न कहें कि 'देख सकता है', 'नहीं देख सकता', 'ऐसा है', 'ऐसा नहीं है'। हम अन्वेषण करें, तहकीकात करें।

प्रश्नकर्ता: एहसास इस बात का है कि कहीं तो शुरुआत करनी है।
कृष्णमूर्ति: हम शुरुआत ही करने जा रहे हैं, सर। तो मैं शुरू कैसे करूँ, कहाँ से शुरू करूँ? स्वयं के प्रति सजग रहना-स्वयं अर्थात सभी विश्वास, मत-सिद्धांत, निष्कर्ष, भय, चिंताएँ, पीड़ा, दुःख, मृत्यु का भय, वह सारा कुछ-इसकी अंतर्वस्तु का पता लगाने के लिए हम शुरुआत कहाँ से करें?

प्रश्नकर्ता: आपने अभी-अभी पूछा कि चेतना क्या होती है?
कृष्णमूर्ति: हम उसी की बात कर रहे हैं।

प्रश्नकर्ता: अगर हम किसी चीज़ का अवलोकन करने जा रहे हैं, तो क्या यह सच है कि हमें उन चीज़ों से बाहर खड़ा होना होगा जिनका हम अवलोकन कर रहे हैं?
कृष्णमूर्ति: मैडम, मैं यह पूछ रहा हूँ, यदि अनुमति हो, कि मैं स्वयं की इस पूरी संरचना की तहकीकात शुरू किस प्रकार करूँ। यदि मेरी इसमें रुचि है, यदि मैं संजीदा हूँ, तो शुरू मैं

कहाँ से करूँ?

प्रश्नकर्ता: क्या प्रश्न यह है, “मैं कौन हूँ?”
कृष्णमूर्ति: वह तो बौद्धिक, शाब्दिक प्रश्न हो जाता है। मैं दूसरों के साथ अपने संबंध में ही स्वयं को जानना शुरू करता हूँ—इस तथ्य से पहचान ज़रूरी है। मैं स्वयं को किसी अमूर्तता में, हवा में नहीं जान सकता हूँ। जबकि अगर मैं देख पाता हूँ कि दूसरे के साथ अपने संबंध के बीच मुझमें क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, तब मेरा अन्वेषण शुरू होता है। यह कहीं ज़्यादा करीब, ज़्यादा सटीक, ज़्यादा बतलाने वाला होता है। क्या हम ऐसा कर सकते हैं? कहने का मतलब यह कि प्रकृति के साथ, अपने पड़ोसी के साथ और बाकी सब के साथ मेरा जो संबंध है, उसी में मुझे स्वयं की प्रकृति का, अपनी फितरत का पता चलता है।

तो किसी के साथ अपने संबंध के दौरान मुझमें जो प्रतिक्रियाएँ उठती हैं, उनका अवलोकन मैं कैसे करता हूँ, कैसे देखता हूँ मैं उन्हें?

प्रश्नकर्ता: हर बार जब मैं किसी प्रतिक्रिया में स्वयं के बारे में कुछ देखता हूँ, वह ज्ञान बन जाता है, कुछ ऐसी चीज़ बन जाता है, जिसे सहेजकर रखा जा सकता है।
कृष्णमूर्ति: मैं कह नहीं सकता कि किसी अन्य के साथ अपने संबंधों के दौरान जो घटित होता है उसका हमें भान रहता भी है अथवा नहीं। आप सब इस मसले पर काफी अनिश्चित से लग रहे हैं।

प्रश्नकर्ता: किसी संबंध में जब मेरी बहुत दिलचस्पी होती है तो मेरा ध्यान इस चीज़ पर जाता है कि वस्तुतः अवलोकन हो नहीं पा रहा। अपने संबंध के दौरान जब मैं क्रोधित होता हूँ तो यह बात तुरंत नज़र आ जाती है कि जो कुछ चल रहा है मैं सच में उसका अवलोकन नहीं कर रहा हूँ।
कृष्णमूर्ति: संबंध से हमारा अभिप्राय क्या है?

प्रश्नकर्ता: जब ऐसा लगता है कि हम कुछ चाह रहे हैं...
कृष्णमूर्ति: पहले उस शब्द को देखें, उस शब्द के अर्थ को।

प्रश्नकर्ता: मुझे उस अन्य व्यक्ति से अपनी तुलना करना पसंद है।
कृष्णमूर्ति: हम उस शब्द का अर्थ पूछ रहे हैं, संबंध का।

प्रश्नकर्ता (1): संवाद।
प्रश्नकर्ता (2): इसका अर्थ है कि आप उस व्यक्ति से संबंधित हैं।
कृष्णमूर्ति: जब मैं कहता हूँ कि मैं अपनी पत्नी से, या अपने पति से, पिता से, पुत्र से, पड़ोसी से संबंधित हूँ, तो उसका अर्थ क्या होता है?

प्रश्नकर्ता (1): मैं उस व्यक्ति का ख्याल रखता हूँ।
प्रश्नकर्ता (2): समस्त मानव जाति हमारी बंधु है।
प्रश्नकर्ता (3): बल्कि आप ही हमें बताएँ।
कृष्णमूर्ति: अच्छा! (हँसी)। संबंध का अर्थ है—मैं पड़ताल भर कर रहा हूँ, बता नहीं रहा हूँ—क्या संबंध का अर्थ सम्यक्, सही-सही प्रतिक्रिया देना नहीं है? अंग्रेज़ी अभिव्यक्ति 'टु बी रिलेटिड' (संबंधित होना) का शब्दकोश के मुताबिक तात्पर्य है, 'टु रिस्पोंड' (प्रत्युत्तर, प्रतिक्रिया देना)—यह शब्द 'रिलेशनशिप' (संबंध) उसी शब्द से आया है। अब आपके साथ, या अपनी पत्नी, पति आदि के साथ मेरा जो संबंध है उसमें कैसे मैं प्रत्युत्तर देता हूँ, कैसे प्रतिक्रिया करता हूँ? मैंने आपके बारे में जो छवि बना रखी है, क्या मेरा उत्तर उसके हिसाब से आता है? या, हम दोनों छवियों से मुक्त हैं और इसलिए सम्यक् उत्तर आ रहा है?

प्रश्नकर्ता: सम्यक् से आपका क्या अभिप्राय है?
कृष्णमूर्ति: परवाह के साथ-अंग्रेज़ी शब्द 'एक्यूरेट' का अभिप्राय होता है खूब ध्यान रखना। यदि आपको किसी चीज़ की परवाह है, तो आप समुचित प्रकार से बरतते हैं। यदि आपको अपनी मोटर का ख्याल है, तो आपको उससे बहुत अच्छी तरह परिचित होना चाहिए, इसकी सभी यांत्रिक प्रक्रियाओं की आपको जानकारी होनी चाहिए। सम्यक् का अभिप्राय है बेहद ख्याल रखना; हम इस शब्द को इस अर्थ में ले रहे हैं। जब किसी और से संबंध होता है, चाहे वह नज़दीकी हो या दूर का, तो वह प्रत्युत्तर उस छवि पर निर्भर करता है जो आपने उस शख्स के बारे में बना रखी है, या उसने आपके बारे में बनाई हुई है। और जब हम उस छवि के अनुसार क्रिया या प्रतिक्रिया करते हैं, तो वह असम्यक् होती है, उसमें पूरा ख्याल नहीं रखा जा रहा होता, पूरी परवाह नहीं होती।

प्रश्नकर्ता: प्रेम और नफरत वाला संबंध क्या होता है?
कृष्णमूर्ति: हम उस पर आएँगे। मैंने आपकी एक छवि बना रखी है और आपने मेरी छवि बना रखी है। उस छवि को बनाया गया है, सुखभोग और भय से, शिकवे-शिकायतों से, धौंस, अधिकार, तरह-तरह की ठेस, अधीरता, वगैरह वगैरह से। और जब हम उस छवि के मुताबिक कुछ करते हैं या प्रत्युत्तर देते हैं, तब वह कर्म, अपूर्ण होने के कारण, असम्यक् होता है, या यों कहें कि बिना परवाह लिए हुआ करता है, जबकि इसी परवाह को हम सामान्यतः प्रेम कहते हैं। क्या आपको एहसास है कि आपने किसी अन्य व्यक्ति के बारे में एक छवि बनाई हुई है? और उस छवि के कारण आप प्रत्युत्तर उस अतीत के हिसाब से ही देते हैं, क्योंकि वह छवि गढ़ी गयी है, और अतीत ही बन चुकी है।

प्रश्नकर्ता: और यह भी कि प्रत्युत्तर व्यक्ति की स्वार्थी इच्छाओं के हिसाब से आता है।
कृष्णमूर्ति: मैंने वही कहा: भय, इच्छा, स्वार्थ।

प्रश्नकर्ता: बगैर छवि के तो आप किसी दूसरे के बारे में सोच तक नहीं सकते; बिना किसी

छवि के आप पत्र कैसे लिख सकते हैं?
कृष्णमूर्ति: कितनी जल्दी आप हर चीज़ का अंतिम हल निकाल लेना चाहते हैं, है कि नहीं? सबसे पहले तो, क्या हम इस बारे में जागरूक हो सकते हैं कि हमने छवि बना रखी है, न सिर्फ अपने बारे में, बल्कि दूसरे के बारे में भी?

प्रश्नकर्ता: वे दोनों छवियाँ आपस में संबंधित हैं, किसी दूसरे की छवियाँ आपकी अपनी छवि के साथ संबंध में हैं।
कृष्णमूर्ति: देखिए आप क्या कह रहे हैं—कुछ ऐसा है जो उस छवि से भिन्न है।

प्रश्नकर्ता: दूसरे की जो छवि है, वह आपकी अपनी छवि से ही बनी है।
कृष्णमूर्ति: यही हमने कहा है।

प्रश्नकर्ता: क्या कुछ व्यावहारिक है जिससे मदद मिले?
कृष्णमूर्ति: यह सबसे अधिक व्यावहारिक है अगर आप इसे सुनें। व्यावहारिक यह है: जो हम हैं उसका स्पष्टता से अवलोकन करना, और फिर वहां से कर्म करना। क्या हमें इस बात का भान है कि हमने किसी और के बारे में छवि बना रखी है; और क्या इस बात का संज्ञान है हमें कि हमने खुद के बारे में भी छवि बना रखी है? क्या आपको इसका एहसास है? यह तो सीधी-सी बात है। मैं आपको आहत करता हूँ, चोट पहुँचाता हूँ, और स्वभावतः आप मेरे बारे में एक छवि बना लेते हैं। मैं आपको सुख-संतुष्टि देता हूँ, और आप मेरे बारे में एक छवि बना लेते हैं। और उस चोट या सुख के मुताबिक आप प्रतिक्रिया करते हैं, और वह प्रतिक्रिया, विखंडित होने के कारण असम्यक् होगी, समग्र नहीं होगी। यह स्पष्ट है। क्या हम यहाँ से आगे बढ़ सकते हैं?

अब आप उस छवि का क्या करते हैं जो आपने किसी और के बारे में बना ली है? मुझे एहसास है कि मेरी एक अपनी छवि है और एक छवि मैंने आपकी बना रखी है, तो दो छवियाँ हैं यहाँ। क्या मैं इसके प्रति सचेत हूँ? और यदि कोई छवि है, तो इस छवि को बनाया क्यों गया है? और वह है कौन, जो इस छवि को रचता है? क्या आप प्रश्न को समझ रहे हैं?

प्रश्नकर्ता (1): क्या भय ही उस छवि को रचता है?
प्रश्नकर्ता (2): क्या अनुभव एक अनिवार्य कल्पनात्मक प्रक्रिया है?
प्रश्नकर्ता (3): पहले की छवियाँ।
प्रश्नकर्ता (4): अवधान का अभाव।
कृष्णमूर्ति: यह बनती कैसे है? किसी चीज़ के अभाव की बात नहीं, वह बनती कैसे है? आप कहते हैं अनुभव द्वारा, विविध घटनाओं द्वारा, शब्दों द्वारा...

प्रश्नकर्ता: इस सब को स्मृति में सँजोते हुए।

कृष्णमूर्ति: जो सब विचार की गतिविधि है, है कि नहीं? तो गति के रूप में विचार ने, जो कि समय है, इस छवि को गढ़ा है, इसकी रचना की है। विचार ऐसा इसलिए करता है क्योंकि वह अपने आप को बनाए रखना चाहता है। क्या मैं यह ईजाद कर रहा हूँ, इसे गढ़ रहा हूँ, या यह असलियत है?

प्रश्नकर्ता: असलियत है।
कृष्णमूर्ति: उसका अर्थ हुआ 'जो है'। 'एक्चुएलिटी' (असलियत) के मायने हैं: 'जो है'। (क्षमा कीजिए, मैं आपको अंग्रेज़ी नहीं सिखा रहा हूँ!)

प्रश्नकर्ता: इसका मतलब है कि तब विचार अपने आप को देख सकता है।
कृष्णमूर्ति: नहीं, नहीं। आपने मेरे बारे में एक छवि बना रखी है, नहीं बना रखी?

प्रश्नकर्ता: हाँ, पर वह बदल रही है।
कृष्णमूर्ति: ठहरिए, थोड़ा धीरे (हँसी)। मेरे बारे में आपने एक छवि बना रखी है, नहीं? ज़रा ईमानदारी से अपने भीतर देखिए, आपको नज़र आ जाएगा कि आपने एक छवि तो बना रखी है। वह छवि वजूद में कैसे आयी? आपने कुछ पढ़ा है, कुछ सुन रखा है, शोहरत-प्रतिष्ठा है, खूब चर्चा होती है इसके बारे में, अखबारों में लेख छपे हैं वगैरह। तो इस सब ने विचार को प्रभावित किया है, और उसी में से आपने एक छवि गढ़ ली है। और आपके भीतर छवि मौजूद है, न सिर्फ़ खुद के बारे में, बल्कि दूसरे के बारे में भी। अतः जब आप वक्ता के बारे में बन गयी उस छवि के मुताबिक प्रत्युत्तर देते हैं, तो आप असम्यक् रूप से प्रत्युत्तर दे रहे होते हैं, प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं, परवाह नहीं होती उसमें। हमने कहा कि परवाह में निहित है अवधान, स्नेह, सटीकता। जिसका अर्थ हुआ 'जो है' के मुताबिक कर्म करना। यहाँ से, अब हम आगे बढ़ते हैं।

प्रश्नकर्ता: क्या छवि एक विचाराकृति नहीं है?
कृष्णमूर्ति: हमने ऐसा कहा था, यह एक विचार है।

प्रश्नकर्ता: विचार ने छवियों का निर्माण किया है और इसमें यह बात निहित लगती है कि विचार ने विचार को रचा है ताकि...

कृष्णमूर्ति: ठहरिए, अगर हम आहिस्ता चलें, तो हम काफी दूर जा पाएँगे। तो विचार ने इस छवि का समय के ज़रिये निर्माण किया है। यह समय एक दिन भी हो सकता है, पचास साल भी। और मैं यह देखता हूँ कि किसी के साथ मेरे संबंध में इस छवि की एक ज़बरदस्त भूमिका होती है। अगर मैं सचेत हो जाता हूँ, यदि मैं मशीनी तरीके से कर्म नहीं करता हूँ तो मुझमें एक जागरूकता आती है और मैं यह देख पाता हूँ कि यह छवि किस कदर असाधारण रूप से सजीव है, जानदार है। तब मेरा अगला सवाल होता है: क्या इस छवि से मुक्त होना

संभव है? मेरे मन में एक कम्यूनिस्ट के रूप में अपनी छवि है जिसका तमाम किस्म की धारणाओं में विश्वास है, या एक कैथोलिक के रूप में-समझे आप? इस पूरी की पूरी सांस्कृतिक-आर्थिक, सामाजिक पृष्ठभूमि ने इस छवि को भी बनाया है। और उसके हिसाब से मैं प्रतिक्रिया करता हूँ, वह प्रतिक्रिया उस छवि के मुताबिक ही होती है। मेरे ख्याल से यह स्पष्ट है।

तो क्या हम इस बारे में जागरूक हैं? तब हम पूछते हैं: क्या यह ज़रूरी है? अगर यह ज़रूरी है तो इसे रखा जाना चाहिए, तब तो हममें यह छवि रहनी चाहिए। और अगर यह ज़रूरी नहीं है, तो सवाल उठता है कि इससे हम मुक्त कैसे हों। तो, क्या छवियाँ ज़रूरी हैं?

प्रश्नकर्ता: इस संसार में, जहाँ हम रहते हैं, यह सारी अस्तव्यस्तता छवियों ने ही फैला रखी है, इसलिए इनकी ज़रूरत नहीं है।
कृष्णमूर्ति: इनका कहना है कि छवि बनाने की यह सारी प्रक्रिया ही संसार में अस्तव्यस्तता फैला रही है।

प्रश्नकर्ता: क्या हम ढेर सारी धारणाएँ नहीं बना रहे हैं?
कृष्णमूर्ति: क्या हम ढेर सारी धारणाएँ बना रहे हैं?

प्रश्नकर्ता: छवि बनाने में धारणा की भूमिका बहुत होती है।
कृष्णमूर्ति: हाँ, किंतु हम इससे कुछ अधिक पूछ रहे हैं। हम पूछ रहे हैं कि क्या इन छवियों का होना ज़रूरी है?

प्रश्नकर्ता: नहीं, हम इससे मुक्त हो सकते हैं।
कृष्णमूर्ति: क्या छवि ज़रूरी है? पहले इसे देख लें।

प्रश्नकर्ता: ज़रूरी नहीं है।
कृष्णमूर्ति: तो अगर यह ज़रूरी नहीं है, तो हम इसे सँजोए क्यों रखते हैं? (हँसी)।

प्रश्नकर्ता: मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस हाल में हम हैं, हमारा उस पर वश नहीं है।
कृष्णमूर्ति: हम पता लगाने जा रहे हैं कि क्या इस छवि से मुक्त होना संभव है, और क्या छवि से मुक्त होना वाकई करने लायक बात है, और छवि से मुक्त होने का अर्थ क्या है।

प्रश्नकर्ता: अस्तव्यस्तता से इसका क्या संबंध है? क्या सही-गलत ठहराने में ही कुछ गड़बड़ है?
कृष्णमूर्ति: नहीं, नहीं, सर। देखिए, मेरी अपने बारे में साम्यवादी के रूप में एक छवि है और मैं मार्क्स में और उसके आर्थिक सिद्धांतों में विश्वास करता हूँ, मेरी उससे मज़बूत प्रतिबद्धता है। और मैं बाकी सब कुछ नामंजूर कर देता हूँ। किंतु आप अलग तरह से सोचते हैं और

आप उस सोच से प्रतिबद्ध हैं। तो आपके और मेरे बीच एक विभाजन है, और वह विभाजन निरपवाद रूप से संघर्ष लाता है। मैं विश्वास करता हूँ कि मैं एक भारतीय हूँ, और मैं भारतीय राष्ट्रवाद से प्रतिबद्ध हूँ, और आप एक प्रतिबद्ध मुसलमान हैं, और इस तरह एक विभाजन है, संघर्ष है। तो इस विभाजन को विचार ने रचा है, और विचार ने ही इन छवियों की, इन लेबलों की, इन विश्वासों की रचना की है जिनके कारण अंतर्विरोध और विभाजन पैदा होते हैं, जिनसे द्वंद्व उपजता है, और इसलिए अस्तव्यस्तता, अराजकता घिर आती है। यह एक तथ्य है। तो अगर आप सोचते हैं कि जीवन अनगिनत द्वंद्वों की, कभी न खत्म होने वाले टकरावों की प्रक्रिया है, तब तो आपको इन छवियों को कायम रखना चाहिए। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि ऐसा है; हम तो प्रश्न कर रहे हैं। मुझे यकीन है कि पिछले दो हज़ार वर्षों में पांच हज़ार से अधिक युद्ध हुए हैं और हमने इस सब को मंजूर कर लिया है—अपने बच्चों को मरवाना मंजूर कर लिया है, क्योंकि हममें ये छवियाँ कायम हैं। और यदि हम देख पाते हैं कि छवियों का होना ज़रूरी नहीं है, कि हमारी सलामती के लिए ये एक ज़बरदस्त खतरा हैं, तो मेरे लिए यह पता लगाना ज़रूरी हो जाता है कि इन छवियों से मुक्ति कैसे हो।

प्रश्नकर्ता: मेरे ख्याल से इसमें कुछ और भी शामिल है, क्योंकि आपका कहना है कि हम हमेशा अतीत से प्रतिक्रिया करते हैं, किंतु इससे क्या फर्क पड़ता है—अतीत एक चक्रीय परिघटना है जो फिर-फिर घटित होती है, अतः आप अपने को रोक नहीं सकते, आप जानते हैं कि यह तो एक तथ्य है कि आप इसे सारा समय उसी तरह से दोहराने वाले हैं।
कृष्णमूर्ति: हम ज़रूरत की बात कर रहे हैं...

प्रश्नकर्ता: (टोकते हुए) आप अपने आप को उस ज़रूरत के खिलाफ तैनात कर रहे हैं...
कृष्णमूर्ति: ...छवि रखने की, या छवि न रखने की। यदि हम इस बारे में स्पष्ट हैं कि छवियाँ एक वास्तविक खतरा हैं, ये वाकई एक विनाशकारी सिलसिला हैं, तभी हम इनसे छुटकारा पाना चाहेंगे। किंतु यदि आप कहते हैं: मैं अपनी छोटी-मोटी छवि रखने ही वाला हूँ, और आप अपनी छोटी-मोटी छवि बनाए रहिए, तो हम एक-दूसरे की गर्दन पर सवार रहेंगे। अतः यदि हम बहुत स्पष्टता से यह देख सकें कि ये छवियाँ, ये लेबल, ये शब्द मनुष्य-जाति को बरबाद कर रहे हैं...

प्रश्नकर्ता: कृष्णमूर्ति, क्या आध्यात्मिक प्रतिबद्धता हमें तीक्ष्णता अथवा ऊर्जा नहीं देती? मेरा तात्पर्य है कि यदि मैं एक प्रतिबद्ध बौद्ध हूँ और मैं अपनी ऊर्जा को उस दिशा में प्रवाहित करता हूँ, तो इसका अनिवार्य रूप से तो यह अर्थ नहीं होगा कि जो बौद्ध नहीं है उनसे मेरा कोई द्वंद्व-टकराव है ही।
कृष्णमूर्ति: कृपया इसकी जाँच कर लें। अगर मैं एक प्रतिबद्ध मनुष्य हूँ, एक प्रतिबद्ध बौद्ध, और किसी और की प्रतिबद्धता ईसाई मत-सिद्धांत के लिए है, और कोई और है जो साम्यवाद के प्रति...

प्रश्नकर्ता: वह मेरा सरोकार नहीं है।
कृष्णमूर्ति: क्या जीवन में ऐसा नहीं हो रहा है? यह मत कहिए कि यदि आप एक साम्यवादी हैं तो यह मेरा मसला नहीं है। मेरा सरोकार है यह देखना कि क्या हम इस संसार में सुरक्षासहित, शांतिपूर्वक रह सकते हैं; हम मनुष्य हैं, हमसे बुद्धिमान होने की उम्मीद की जाती है। किसी भी चीज़ से प्रतिबद्ध क्यों होना चाहिए मुझे?

प्रश्नकर्ता: क्योंकि इससे ऊर्जा मिलती है, पैनेपन की ताकत मिलती है।
कृष्णमूर्ति: नहीं, नहीं।

प्रश्नकर्ता: खतरा यह है कि केंद्र में जो तथ्य है, उससे हम दूर हट रहे हैं।
कृष्णमूर्ति: हाँ, हम हमेशा प्रमुख तथ्य से दूर हटते रहते हैं।

प्रश्नकर्ता: वही हम ठीक इस समय कर रहे हैं: वह छवि ज़रूरी नहीं है।
कृष्णमूर्ति: लोग सोचते हैं कि अंग्रेज़ होना, जर्मन होना, हिन्दू होना, कैथोलिक होना ज़रूरी है, वे सोचते हैं कि यह महत्त्वपूर्ण है। वे इसका खतरा नहीं देख पाते।

प्रश्नकर्ता (1): कुछ लोग सोचते हैं कि यह ज़रूरी नहीं है।
प्रश्नकर्ता (2): हम खतरा क्यों नहीं देख पाते?
कृष्णमूर्ति: क्योंकि हम बहुत अधिक संस्कारबद्ध हैं, यह इतना फ़ायदेमंद है। मेरा पेशा इस पर निर्भर है। कहीं ऐसा न हो कि मैं अपने बेटे की शादी किसी कैथोलिक से न कर पाऊँ। यही सब अनाप-शनाप बातें। तो मुद्दा यह है: यदि कोई इन छवियों का खतरा देख ले, तो मन अपने आप को इनसे कैसे मुक्त कर सकता है?

प्रश्नकर्ता: जब कोई छवि न बन रही हो, तो क्या 'मैं', का वहाँ होना मुमकिन है?
कृष्णमूर्ति: छवियाँ, वे चाहे पुरानी हों या नयी, वही छवियाँ तो हैं।

प्रश्नकर्ता: हाँ, किंतु जब कोई छवि बन रही हो, क्या तब मैं सजग रह सकता हूँ?
कृष्णमूर्ति: सबसे पहले हम इसकी पड़ताल करने जा रहे हैं: छवि बनती कैसे है? क्या इसका निर्माण अनवधान के, 'इनअटेन्शन' के चलते होता है? आप मुझ पर क्रोधित होते हैं, और जो आप कह रहे हैं, उस पर यदि मैं उस क्षण पूरी तरह से ध्यान दूँ तो मुझमें क्रोध नहीं होगा। पता नहीं आप इसके सच को महसूस कर रहे हैं या नहीं?

प्रश्नकर्ता: अतः उस अवस्था में वह छवि और उस छवि को बनाने वाला एक ही होंगे।
कृष्णमूर्ति: इसको बिलकुल सरल रखिए। मैं कुछ कहता हूँ जो आपके लिए सुखप्रद नहीं होता। आपमें तुरंत एक छवि बन जाती है, है न? अब उस क्षण, यदि आप पूरी तरह से सजग हों, तब क्या कोई छवि बनती है?

प्रश्नकर्ता: यदि आपमें वह नयी छवि नहीं बनती, तो बाकी सारी छवियाँ भी चली जाती हैं।
कृष्णमूर्ति: हाँ, यही सारी बात है। क्या हम सुनने के उस क्षण में सावधान, 'अटेन्टिव' हो सकते हैं? अभी आप सुन रहे हैं, तो क्या आप पूर्णतः सावधान हो सकते हैं? और जब आपको कोई अभद्रता से संबोधित करता है, या आपको खुश कर रहा होता है, उस क्षण, ठीक उसी क्षण, क्या आप पूरी तरह सजग हो सकते हैं? आपने ऐसा करके देखा है कभी? आप इसे आज़मा सकते हैं, क्योंकि अन्वेषण का, पता करने का यही एक तरीका है, न कि वक्ता के शब्दों को मान लेना। आप इसे आज़मा सकते हैं। तब, यदि छवि-निर्माण नहीं हो रहा है, और इस कारण अब कोई छवि है ही नहीं, तो इन दो जनों के बीच संबंध क्या है? आपने मेरे बारे में कोई छवि नहीं बना रखी, किंतु मैंने आपके बारे में छवि बनायी हुई है; तब आपका मेरे साथ संबंध क्या है? आपमें छवि है ही नहीं, क्योंकि आप इसका खतरा देख पाते हैं, किंतु मुझे इसका खतरा नज़र नहीं आता। मेरी अपनी छवियाँ हैं और आपका मुझसे संबंध है, पत्नी, पति, पिता, या जिस किसी भी रूप में। मुझमें छवियाँ हैं, और आपमें कोई छवि नहीं है। तब आपका मुझसे क्या संबंध है? और मेरा आपसे क्या संबंध है?

प्रश्नकर्ता: बीच में कहीं कुछ रोक है।
कृष्णमूर्ति: रोक निश्चित ही है, किंतु हम पूछ रहे हैं कि है क्या वह संबंध। आप मेरी पत्नी हैं; और मैं बहुत महत्त्वाकांक्षी हूँ, लालची हूँ, ईर्ष्यालु हूँ, मैं इस संसार में सफल होना चाहता हूँ, खूब पैसा कमाना चाहता हूँ, पद चाहता हूँ, प्रतिष्ठा चाहता हूँ, और आप कहती हैं, "यह सब कितना बेतुका है; उस तरह के मत बनें, नादान न बनें, परंपरा को न ढोएँ, मशीन जैसे न हों, यह सब वही पुराना ढर्रा तो दोहराया जा रहा है"। तो आपके और मेरे बीच होता क्या है?

प्रश्नकर्ता: विभाजन।
कृष्णमूर्ति: और हम प्रेम के बारे में साथ-साथ बातें करते हैं। मैं ऑफिस चला जाता हूँ जहाँ मैं पाशविक हूँ, महत्त्वाकांक्षी हूँ, निष्ठुर हूँ, और मैं घर पहुँचने पर आपके साथ बहुत खुशनुमा ढंग से पेश आता हूँ—क्योंकि मैं आपके साथ सोना चाह रहा हूँ। तो यह संबंध क्या है?

प्रश्नकर्ता (1): अच्छा नहीं है।
प्रश्नकर्ता (2): कोई संबंध नहीं है।
कृष्णमूर्ति: बिलकुल भी संबंध नहीं है। चलिए! और तिस पर भी इसी को हम प्रेम कहते हैं। तो आपके और मेरे बीच क्या संबंध है, जब मुझमें छवि है, और आपमें कोई छवि नहीं है? या तो आप मुझे छोड़ देते हैं, या हम द्वंद्व में जीते हैं। यह द्वंद्व, यह टकराव आप नहीं, मैं पैदा करता हूँ, क्योंकि छवि मैंने बना रखी है। तो क्या एक दूजे से हमारे संबंध में यह संभव है कि हम छवियों से मुक्त होने में एक-दूसरे की मदद करें? आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं? चाहे-अनचाहे, कामवासना के चलते, और तमाम वजहों से आपसे मेरा नाता जुड़ गया है। तो मेरा संबंध है आपसे, और आप छवियों से मुक्त हैं और मैं उनसे मुक्त नहीं हूँ; और इसलिए आपको बेइंतहा परवाह है मेरी। देख पा रहे हैं आप इसे? छवियों से मुक्त होना आपके लिए

असाधारण महत्त्व रखता है—और मैं आपका पिता, आपकी पत्नी, आपका पति हूँ या जो कुछ भी हमारा रिश्ता है। तो क्या आप मुझे त्याग देंगे?

प्रश्नकर्ता: नहीं।
कृष्णमूर्ति: इतनी आसानी से 'नहीं' मत कहिए। आपको परवाह है, आपमें स्नेह है, आप एकदम अलग तरह से महसूस करते हैं। तो आप मेरे साथ क्या करेंगे?

प्रश्नकर्ता: आप कुछ नहीं कर सकते।
कृष्णमूर्ति: आप मेरे साथ कुछ क्यों नहीं कर सकते? इसकी गहराई में जाइए, अटकलें मत लगाइए। आप सब उस स्थिति में हैं। यही जीवन है।

प्रश्नकर्ता (1): यह इस पर निर्भर करता है कि उस व्यक्ति में मसले की तह में देखने की क्षमता है या नहीं।
प्रश्नकर्ता (2): सब कुछ निभाते जाइए और चीज़ों को अनदेखा करते रहिए (हँसी)।
कृष्णमूर्ति: तब भी, जब मैं आपको लगातार हैरान करने में लगा हूँ? आप लोग बस शब्दों से खेला करते हैं। आप असलियत से दो-चार नहीं होते, उसे नहीं देखते।

प्रश्नकर्ता: यकीनन, अगर आपके अंदर कोई छवि नहीं है और आप उस दूसरे शख्स की ओर देखते हैं, तो आपको उनकी छवि भी नहीं दिखेगी।
कृष्णमूर्ति: बल्कि, अगर मैं छवि से मुक्त हूँ तो मैं साफ-साफ देख पाता हूँ कि आपने छवि बना रखी है। संसार में यह हो रहा है, हर परिवार में हो रहा है, संबंधों में ऐसे ही हालात सामने आते हैं—कुछ है आपके जीवन में, एक मुक्ति का एहसास, और वह बात मुझमें नहीं है और हम दोनों के बीच घमासान है।

प्रश्नकर्ता: मेरे ख्याल से यह हालत सब जगह है।
कृष्णमूर्ति: यही तो मैं कह रहा हूँ। आप क्या करेंगे? सब कुछ छोड़-छाड़कर गायब हो जाएँगे और साधु बन जाएँगे? कोई समुदाय बना लेंगे? ध्यान और उस तरह की चीज़ों की तरफ निकल लेंगे? समस्या बड़ी भारी है।

प्रश्नकर्ता (1): पहले तो मैं आपसे बात करूँगा कि मैं कैसा महसूस कर रहा हूँ।
प्रश्नकर्ता (2): बेशक यह सब अवास्तविक है, क्योंकि हम कल्पना करने की कोशिश कर रहे हैं।
कृष्णमूर्ति: मैं यह कह चुका हूँ कि अगर आपने छवि बना रखी है और मैंने भी छवि बनायी हुई है, तब हम बड़ी शांति से रहते हैं, क्योंकि हम दोनों ही बेखबर हैं और हमें फर्क नहीं पड़ता।

प्रश्नकर्ता: आपने यह स्थिति हमारे लिए इस वजह से रची है, क्योंकि आप चाह रहे हैं कि

हम छवियों से मुक्त हों!
कृष्णमूर्ति: बेशक, बेशक, मैं चाहता हूँ कि आप छवियों से मुक्त हों, अन्यथा हम इस संसार को नष्ट कर देने वाले हैं।

प्रश्नकर्ता: वह मेरी समझ में आता है।
कृष्णमूर्ति: स्थिति आपके लिए रची नहीं जा रही है: यह मौजूद है। देखिए इसको।

प्रश्नकर्ता: आपके बारे में मैंने एक छवि बना रखी है, और ऐसा बहुत समय से है। और फिर अलग-अलग किस्म की छवियाँ हैं। मैं उन छवियों से मुक्त होने की कोशिश करता रहा हूँ क्योंकि मैंने यह पढ़ा है कि इन छवियों ने मेरे लिए समस्याएँ पैदा की हैं। अब मैं हर बार आपके साथ इस मसले का कोई हल निकाल लेना चाहता हूँ; पर तो भी, इससे कोई बात बन नहीं पायी।
कृष्णमूर्ति: मैं आपको दिखाने जा रहा हूँ कि इससे मुक्त कैसे हुआ जा सकता है, छवियों से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है।

प्रश्नकर्ता: मुझे आप पर विश्वास नहीं है, सर।
कृष्णमूर्ति: तो फिर मत विश्वास कीजिए मुझ पर (हँसी)।

प्रश्नकर्ता: सारा समय आप बस वहाँ बैठकर बातें करते हैं। यह सब हवा में है, 'एब्स्ट्रैक्शन' है। आपके बारे में मेरी छवि, अर्थात आप बैठे हुए हैं उस मंच पर एक संबोधिप्राप्त, 'एन्लाइटन्ड' व्यक्ति के रूप में। मैं यहाँ एक श्रोता के तौर पर हूँ, यों कहिए कि एक शिष्य या विद्यार्थी। अब मुझे बहुत दृढ़ता से यह एहसास हो रहा है कि यह असलियत या वास्तविकता नहीं है, क्योंकि हम दो मनुष्य ही तो हैं। किंतु तब भी आप गुरुओं के सम्राट हैं, आप वह हैं जो जानता है और... (हँसी)।
कृष्णमूर्ति: आप लोग हँसिए मत, कृपया शांत रहिए, वह आपको कुछ बतला रहे हैं, मेहरबानी करके सुनिए। (प्रश्नकर्ता से) आप चाहें तो मैं आपको कुछ दिखाऊँ?

अगर गुरु की उस छवि ने कोई समस्या न खड़ी की होती, तो आप उस गुरु के साथ खुशी-खुशी जी लेते, है न? किंतु उसने एक समस्या खड़ी कर दी है, अब चाहे वह गुरु हो, पत्नी हो, या पति हो-बात वही है। आपकी वक्ता के बारे में यह छवि है कि वह परम गुरु है (कृष्णमूर्ति व अन्य हँसते हैं)—'गुरु' शब्द का अर्थ है: जो अज्ञान को दूर करे, जो किसी और के अज्ञान को दूर कर दे। पर आम तौर से तो गुरु अपना अज्ञान आप पर थोपा करते हैं। मेरे बारे में आपने गुरु की एक छवि बना ली है, या किसी और के बारे में आपने एक ईसाई की या कुछ और छवि बना ली है। यदि इससे आपको खुशी मिलती है, यह छवि आपको तृप्ति देती है, तो आप इसे पकड़े रहेंगे-है कि नहीं? एकदम सीधी-सी बात है। अगर इसकी वजह से दिक्कत खड़ी होती है, तब आप कहने लगते हैं, "यह तो बड़ी खराब चीज़ है" और अलग हट जाते

हैं, फिर कोई और रिश्ता बना लेते हैं जो सुखकर हो, लेकिन यह तो वही छवि-निर्माण वाला सिलसिला हुआ। अतः प्रश्न यह है: क्या छवियों से मुक्त होना संभव है? वक्ता मंच पर इसलिए बैठता है क्योंकि यह सुविधाजनक है, आप सब उसे देख पाते हैं; मैं उसी तरह ज़मीन पर भी बैठ सकता हूँ, किंतु छवि तो आपमें वही बनी रहेगी। इसलिए इस ऊँचाई से कोई फर्क नहीं पड़ने वाला।

प्रश्न यह है, क्या मन-मन जो कि विचार का ही अंश है, और विचार ने ही ये छवियाँ बनायी हैं—क्या विचार इन छवियों को हटा सकता है? विचार ने ही इस सब को रचा है, और विचार इसे हटा भी सकता है, क्योंकि जब कोई छवि संतुष्टिदायक नहीं रहती तो और कोई छवि बना ली जाती है जो संतुष्टि दे सके। यही हम करते रहते हैं। विविध कारणों से मुझे वह गुरु पसंद नहीं आता, तो मैं दूसरे के पास चला जाता हूँ क्योंकि वह मेरी तारीफ करता है, मुझे हार-माला देता है और कहता है, "मेरे प्यारे बच्चे, तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ शिष्य हो"। तो इस छवि को विचार ने बनाया है। क्या विचार इसे अनकिया कर सकता है?

प्रश्नकर्ता: नहीं कर सकता, यदि आप बौद्धिक स्तर पर इसे देख रहे हैं। किंतु बौद्धिक स्तर पर इसे देखने पर, आप अपनी इंद्रियों के बोध का प्रयोग नहीं कर रहे।
कृष्णमूर्ति: मैं पहले कुछ और पूछ रहा हूँ। देखिए इसे। क्या बुद्धि, तार्किकता इस छवि को हटा सकती है?

प्रश्नकर्ता: नहीं।
कृष्णमूर्ति: तो और क्या है जो ऐसा कर पाए?

प्रश्नकर्ता: बीच में जो चीज़ आड़े आ रही है वह महज़ 'स्व' है, 'मैं'। यदि आप इस पर काबू पा लें...
कृष्णमूर्ति: मुझे मालूम है; लेकिन 'मैं' की इस कहीं अधिक जटिल समस्या में फिलहाल मैं नहीं जाना चाह रहा।

प्रश्नकर्ता: आपका मतलब छवि से है—'मैं' से आपका अभिप्राय वही है।
कृष्णमूर्ति: बेशक, बेशक। तो कोई और छवि बनाए बिना विचार को उस छवि से छुटकारा कैसे मिले?

प्रश्नकर्ता: यदि गुरु के कारण दिक्कत पैदा होती है और वह छवि अब अप्रिय लगने लगती है, तो अगर कोई उस दिक्कत को देख सके तो शायद वह गुरु मदद कर पाए।
कृष्णमूर्ति: आप इसे बिलकुल भी तवज्जो नहीं दे रहे, सिर्फ सरसरी तौर पर देख रहे हैं।

प्रश्नकर्ता: विचार उस छवि से छुटकारा नहीं पा सकता।
कृष्णमूर्ति: तो फिर क्या है जो यह कर पाएगा?

प्रश्नकर्ता: समझ।
कृष्णमूर्ति: समझ जैसे शब्दों का इस्तेमाल मत कीजिए। समझ से आपका मतलब क्या है?

प्रश्नकर्ता: विचारों से छुटकारा पाना।
कृष्णमूर्ति: अब, वह कौन है जो विचारों से छुटकारा पाने जा रहा है?

प्रश्नकर्ता: क्या यह समय का एक प्रश्न है? क्या ऐसा हो सकता है कि हमारी सारी ऊर्जा अतीत में ही है, और सोचने की ज़रूरत हमें अब है?
कृष्णमूर्ति: वे सारी छवियाँ अतीत में ही हैं। क्यों नहीं मैं उस सब को छोड़ कर इस क्षण में जी पाता?

प्रश्नकर्ता: मेरा मतलब यही था।
कृष्णमूर्ति: हाँ। अतीत के उस बोझ के साथ, मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ? और उस बोझ से छुटकारा मुझे कैसे मिले? बात फिर वहीं आ जाती है।

प्रश्नकर्ता: यदि कोई वर्तमान में जीता है, तो अतीत की छवियाँ क्या तब भी बनी रहती हैं?
कृष्णमूर्ति: क्या आप जी सकते हैं वर्तमान में? क्या आप जानते हैं कि वर्तमान में जीने का अर्थ क्या होता है? इसका अर्थ होता है एक भी स्मृति का न होना, तकनीकी स्मृतियों के अलावा, अतीत की एक भी आहट का न होना। इसलिए आपको अतीत के समूचेपन को समझना पड़ेगा-यह सारी स्मृति, अनुभव, जानकारी, कल्पना, छवियाँ-यह सब अतीत है। एक चीज़ से आप दूसरी की तरफ निकल जाते हैं, स्थिर मति से किसी एक चीज़ की पड़ताल में नहीं लगते।

प्रश्नकर्ता (1): कृपया उसी बात को जारी रखें कि किसी ने छवि नहीं बनायी हुई है, जबकि किसी ने बनायी हुई है।
प्रश्नकर्ता (2): हाँ, पर हम उसका उत्तर नहीं दे रहे।
कृष्णमूर्ति: ठीक है, मैं उसका उत्तर देता हूँ। आपने कोई छवि नहीं बनायी और मैंने बना रखी है। होता क्या है? क्या हम अनवरत एक-दूसरे से टकराव की हालत में नहीं रहते?

प्रश्नकर्ता: मैं आपके साथ करूँ क्या?
कृष्णमूर्ति: हम एक ही धरती पर जी रहे हैं, एक ही घर में रह रहे हैं, अक्सर मिलते हैं, एक ही समुदाय में रहते हैं; तो आप करेंगे क्या मेरे साथ?

प्रश्नकर्ता: मैंने जो सीखा है, वह मैं उसे समझाने की कोशिश करूँगा।
कृष्णमूर्ति: हाँ, आप मुझे यह समझा चुके हैं, लेकिन मुझे अपनी छवि पसंद है (हँसी)।

प्रश्नकर्ता: सर, हम इस बारे में नहीं जान सकते, क्योंकि हमने तो अपनी छवियाँ बनायी हुई

हैं।
कृष्णमूर्ति: यही तो मैं कह रहा हूँ। आप छवियों में ही जी रहे हैं और आपको नहीं मालूम कि कैसे उनसे मुक्त होना है। ये सब तो अनुमान-आधारित प्रश्न हैं।

तो फिर से शुरू करते हैं। क्या आपको एहसास है कि आपने छवियाँ बना रखी हैं। अगर ये छवियाँ ऐसी हैं जो आपके लिए सुखकर हैं, तो आप उनसे चिपके रहते हैं, और जो छवियाँ अप्रिय हैं उन्हें आप छोड़ देते हैं, किंतु तो भी छवियाँ तो होती ही हैं आपके साथ। प्रश्न वस्तुतः यह है: क्या आप इनसे मुक्त हो सकते हैं?

प्रश्नकर्ता: कहीं संगीत सुनने चले जाइए।
कृष्णमूर्ति: जिस पल वह संगीत रुकता है, आप वापस उन छवियों में लौट आते हैं। यह सब कितना बचकाना है! ड्रग्स ले लीजिए, उससे भी कई तरह की छवियाँ ही बनती हैं।

प्रश्नकर्ता: क्या उन छवियों को पकड़े रहने की चाह और उन्हें जाने देने की चाह के बीच विभाजन नहीं है?
कृष्णमूर्ति: क्या है वह लकीर, वह विभाजन? इच्छा ही वह विभाजन है, है कि नहीं? सुनिए, सर। वह छवि मुझे पसंद नहीं, इसलिए मैं उसे छूट जाने देता हूँ। किंतु यह छवि मुझे पसंद है, तो इसे मैं पकड़े रखूँगा। तो यह इच्छा ही है, नहीं?

प्रश्नकर्ता: मैं सोचता हूँ कि इसमें भी सुख का प्रयोजन है...
कृष्णमूर्ति: बिलकुल। पर आप एक विषय के साथ नहीं रहते, सर।

प्रश्नकर्ता: अगर मुझमें कोई छवि नहीं है, तो दूसरे में भी कतई कोई छवि नहीं होगी।
कृष्णमूर्ति: तथ्य से कितनी दूर है यह बात: चूँकि मैं अंधा हूँ, इसलिए आप भी अंधे हैं! यह कितना बेतुका तर्क है; स्पष्टता के साथ सोचिए।

तो मुझे क्या करना चाहिए ताकि छवि-निर्माण बिलकुल हो ही नहीं? इस पर साथ मिल कर विचार करें।

प्रश्नकर्ता: मेरे ख्याल से ज़्यादातर लोग—माफ कीजिएगा-यहाँ ज़्यादातर लोग आपके शब्दों में बस दिलासा ढूँढ़ रहे हैं, बजाय कुछ और...
कृष्णमूर्ति: मुझे एहसास है कि मेरे अंदर छवियाँ हैं, मैं जानता हूँ। कोई सवाल ही नहीं है इस बारे में, मुझे मालूम है कि मुझमें छवियाँ हैं। एक छवि मेरे अपने बारे में है और एक छवि आपके बारे में है—यह एकदम स्पष्ट है। अगर मैं आपसे संतुष्ट हूँ और हमने छवियाँ एक-सी ही बना रखी हैं, उस हालत में हम दोनों ही संतुष्ट होंगे। मतलब कि, अगर आप वैसे ही सोचते हैं जैसे मैं सोचता हूँ—आपको महत्त्वाकांक्षी होना पसंद है, मुझे भी महत्त्वाकांक्षी होना पसंद है— तब हम दोनों एक ही नौका पर सवार हैं, हममें कोई झगड़ा-झंझट नहीं, हमने इस रवैये

को मंजूर कर लिया है, और हम साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ काम करते हैं, और दोनों ही महत्त्वाकांक्षी हैं, बेरहमी के साथ। किंतु यदि आप महत्त्वाकांक्षा की छवि से मुक्त हैं, और मैं नहीं हूँ तब झंझट शुरू हो जाती है। तब आप, जो उस छवि से मुक्त हैं, मेरे साथ क्या करने जा रहे हैं? आप यह नहीं कह सकते, "इससे मेरा कोई वास्ता नहीं"-क्योंकि हम साथ रह रहे हैं, उसी दुनिया में, उसी समुदाय में, उसी समूह में, उसी...। तो क्या करेंगे आप मेरे साथ? मेहरबानी करके ज़रा इसे सुनिए। क्या आप मुझे अलग कर देंगे, मुझसे मुँह मोड़ लेंगे, मुझे छोड़ कर भाग जाएँगे, किसी मठ-आश्रम में भर्ती हो जाएँगे, ध्यान सीखने लगेंगे? मुझसे दूर बचने के लिए तमाम तरह के उपाय करेंगे? या आप यह कहेंगे, "हाँ, वह यहाँ मेरे घर में हैं"। मेरे संदर्भ में-जिसमें छवियाँ मौजूद हैं—आप करेंगे क्या?

प्रश्नकर्ता: सर्वप्रथम मैं आपसे निवेदन करूँगा कि सुनिए तो!
कृष्णमूर्ति: लेकिन मैं सुनूँगा ही नहीं। क्या आप ऐसे लोगों के साथ नहीं रहे हैं जो अपने विश्वासों से टस से मस नहीं होते। आप भी वैसे ही हैं।

प्रश्नकर्ता: सबसे बढ़िया तो यह होगा कि अपना वक्त बरबाद न किया जाए।
कृष्णमूर्ति: हम पता लगाने जा रहे हैं, सर। ऐसा है कि यह वस्तुतः एक परिकल्पित, 'हाइपॅथेटिकल' प्रश्न है, क्योंकि आपकी तो अपनी छवियाँ हैं और आप उन छवियों में जी रहे हैं, और साथ वाला भी छवियों में जी रहा है। यही हमारी मुश्किल है। फर्ज़ कीजिए कि मैंने कोई छवि नहीं बना रखी-और मेरे अंदर सच में कोई छवि नहीं है, मैंने इस पर पचास साल तक काम किया है, अतः मेरी अपने बारे में, या आपके बारे में कोई छवि है ही नहीं। तो हमारा संबंध क्या है? मैं कहता हूँ, मेहरबानी करके मेरी बात सुनिए, पर आप नहीं सुनते। मैं कहता हूँ कृपया ध्यान दीजिए, जिसका मतलब है ख्याल करना, परवाह लेना, ध्यान देने का मतलब है बेअंत परवाह। क्या आप मुझे उस ढंग से सुनेंगे? उसका अर्थ यह होगा कि आप सच में सीखना चाहते हैं—मुझसे नहीं, बल्कि खुद के बारे में सीखना चाहते हैं। जिसका मतलब हुआ आपको बेशुमार परवाह लेनी होगी, खुद को देखना होगा, स्वार्थ हेतु नहीं, बल्कि आपको ध्यान देना होगा स्वयं के बारे में सीखने पर-मेरे अनुसार नहीं, अथवा फ्रायड या जुंग या किसी नवीनतम मनोवैज्ञानिक के अनुसार नहीं, अपितु अपने आप के बारे में सीखने पर। उसका अर्थ है, स्वयं का अवलोकन कीजिए, और ऐसा आप केवल एक-दूसरे के साथ अपने संबंध के अंतर्गत ही कर सकते हैं। आप कहते हैं, "आप मंच पर बैठे हुए हैं और, कम-से-कम मेरी नज़र में, आपने क्रमशः प्रमाणपुरुष की भूमिका अपना ली है, आप मेरे गुरु बन गये हैं"। और मैं आपसे कहता हूँ, "मेरे दोस्त, ज़रा मेरी बात सुनिए। मैं आपका गुरु नहीं हूँ। मुझे किसी का भी गुरु नहीं होना है"। गुरु होना तो भयावह है। जब मैं ऐसा कहता हूँ, तो क्या आप सुन रहे होते हैं? या आप कह देते हैं, "मैं आपको सुन ही नहीं पा रहा, क्योंकि मेरा मन कहीं और भटक रहा है"। तो जब आप सुनते हैं, परवाह के साथ, स्नेह के साथ, ध्यान से, 'अटेन्शन' के साथ सुनते हैं, तब आप सीखना शुरू करते हैं स्वयं के बारे में, जो आप असल में हैं उसके बारे में। इसके बाद, वहाँ से हम गति कर सकते हैं, आगे बढ़ सकते हैं;

लेकिन यदि आप ऐसा नहीं करते, और सिर्फ दोहराते रहते हैं, “ओहो! मैंने तो अपनी छवि बना रखी है, मैं नहीं जानता कि इससे मुक्त कैसे होना है” इत्यादि, तब हम तनिक भी आगे नहीं बढ़ पाते।

अब एक छवि है आपके भीतर, सेक्स को लेकर, कि आपके जीवन में कोई लड़की होनी ही चाहिए, या कोई लड़का होना ही चाहिए। हम इस विषय में बहुत संस्कारबद्ध हैं, ‘कंडीशन्ड’ हैं। मैं आपसे कहता हूँ कि कृपया सुनिए, क्या आप सजग हैं कि आप संस्कारबद्ध हैं?-उस संस्कारबद्धता के हिस्सों को न चुनें: अपनी सारी संस्कारबद्धता के प्रति पूरी तरह से सजग हों। हम चेतना के सतही स्तरों की बनिस्बत अधिक गहरे तलों में कहीं ज़्यादा बँधे हैं संस्कारों से-यह स्पष्ट है? व्यक्ति की संस्कारबद्धता खूब गहरे में ज़्यादा होती है, सतह पर थोड़ा कम हुआ करती है। तो इस मन के लिए-क्या आप सुन रहे हैं? हृदय से सुन रहे हैं, अपने क्षुद्र दिमाग से नहीं, बल्कि अपने हृदय से, अपने पूरे अस्तित्व से-क्या यह संभव है कि यह मन इस सब के प्रति, इस समग्र चेतना के प्रति सजग हो सके? पूरी तरह से सजग होने में निहित है कि कोई अवलोकनकर्ता न हो। वह अवलोकनकर्ता, वह देखने वाला तो अतीत ही है, और इसलिए जब वह अवलोकन करता है, तो विखंडन को जन्म देता है। जब मैं उस अतीत के द्वारा अवलोकन करता हूँ, तो जो मैं देखता हूँ उससे एक खंडित नज़रिया वजूद में आता है। मैं सिर्फ अंशों में, खंडों में देख पाता हूँ, समग्रता में नहीं देख पाता। बात सरल है। तो मुझे एक अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है जो कहती है, “अतीत से मत देखिए”। मतलब कि कोई अवलोकनकर्ता न हो, जो हर समय फैसला देता रहता है, आँकता रहता है, बताता रहता है, “यह सही है, यह गलत है”, “मैं ईसाई हूँ, मैं साम्यवादी हूँ”-यह सब-का-सब अतीत है। और क्या आप इसे सुन सकते हैं, जो कि एक तथ्य है, असलियत है, जो कोई सैद्धांतिक जुमला नहीं है? आप वस्तुतः ‘जो है’, उसका सामना कर रहे हैं। जो कुछ भी आपमें सच में चल रहा है, क्या आप उसका सामना कर रहे हैं स्वयं में? और क्या आप किसी अन्य को भी देख सकते हैं, अतीत को बीच में लाए बिना उसका अवलोकन कर सकते हैं, उन सारी संचित स्मृतियों, अपमानों और चोटों की स्मृतियों के बिना, ताकि आप उसे स्वच्छ-स्पष्ट आँखों से देख सकें? यदि आप कहते हैं, “मैं नहीं जानता कि इसे करना कैसे है”, तब हम इसके विस्तार में जा सकते हैं।

जैसा कि हमने कहा, इस विषय में किसी भी प्रकार का सत्ता-प्रामाण्य, कैसी भी ‘अथॉरिटी’ किसी ऐसे व्यक्ति के तईं आज्ञानुसारी होने की प्रतिक्रिया है जो कह रहा है कि वह जानता है। वही आपकी छवि है। वह प्रोफेसर या वह शिक्षक गणित जानते हैं, भूगोल जानते हैं, और मैं नहीं जानता, इसलिए मैं उनसे सीखता हूँ, और धीरे-धीरे वह मेरे ‘प्रमाणपुरुष’ बन जाते हैं। वह जानते हैं, मैं नहीं जानता हूँ। किंतु यहाँ, मानस के क्षेत्र में, मैं सोचता हूँ कि मुझे मालूम ही नहीं मैं खुद तक पहुँचूँ कैसे, इसके बारे में सीखना कैसे हो, और इस वजह से मैं किसी दूसरे का मुँह ताकता हूँ—प्रक्रिया वही है। किंतु वह दूसरा भी उतना ही अनजान है जितना कि मैं, क्योंकि वह अपने आप को नहीं जानता है। वह परंपरा में जकड़ा है, उसे फरमाबरदारी भाती

है, वह उस विषय का अधिकारी बन बैठता है, वह कहता है कि वह जानकार है और आप जानते नहीं हैं: “आप मेरे शिष्य बन जाइए, और मैं बतला दूँगा आपको”। प्रक्रिया वही है। लेकिन मानस के क्षेत्र में वह प्रक्रिया काम नहीं आएगी। मानसिक रूप से वह गुरु ‘मैं’ ही तो हूँ। देख रहे हैं आप इसे? वह भी उतना ही अज्ञानी है जितना कि मैं। उसके पास ढेरों संस्कृत के शब्द हैं, कई सारी धारणाएँ हैं, बहुत से अंधविश्वास हैं; और मैं इस कदर सरलमति हूँ कि उसे स्वीकार कर लेता हूँ, मान लेता हूँ। यहाँ पर हम कह रहे हैं: कोई ‘अथॉरिटी’ नहीं है, कोई गुरु नहीं है, खुद के बारे में आपको अपने आप सीखना होगा। और खुद के बारे में सीखने के लिए, आपको देखना होगा खुद को, कैसे आप बरताव करते हैं दूसरे के साथ, आप चलते कैसे हैं—समझ रहे हैं आप? तब आपको पता चलता है कि आपने अपने बारे में एक छवि बना रखी है, प्रचंड छवि। और आप देख पाते हैं कि ये छवियाँ बहुत बड़ा नुकसान पहुँचाती हैं, ये संसार को टुकड़ों में बाँट देती हैं—कृष्णा-कॉन्शसनैस मंडली, ट्रान्सेन्डेन्टल मेडिटेशन मंडली, या कोई और समूह। और आपकी अपनी मंडली, अपना समूह है; आपकी अपनी धारणाएँ हैं, आपके लिए सेक्स ज़रूरी है, एक लड़की साथ होनी ज़रूरी है, या एक लड़का साथ होना ज़रूरी है, और बाकी सारा कुछ; लड़की बदल डालो, लड़का बदल डालो, हर हफ्ते। इसी तरह से जीते हैं आप, और देखते ही नहीं ज़िंदगी की इस बरबादी को, इस ज़बरदस्त खतरे को।

अब हम इस मुद्दे पर आते हैं: इस समस्त छवि-निर्माण से मैं मुक्त कैसे होऊँ? यही असल सवाल है। क्या यह संभव है? मैं यह नहीं कहूँगा कि है, अथवा नहीं है; मैं इस बात का पता लगाने जा रहा हूँ। छवियाँ क्यों बनायी जाती हैं, इसकी बहुत एहतियात से तहकीकात करते हुए मैं यह पता लगाने जा रहा हूँ। मुझे एहसास होता है कि छवियाँ तब बनती हैं, जब यह मन उस क्षण को अपना अवधान, अपनी ‘अटेन्शन’ नहीं दे रहा होता है। जिस क्षण कुछ ऐसा बोला गया जो हमें प्रसन्न करता है, या कुछ ऐसा कहा किसी ने जो हमें उद्विग्न करता है, अशांत करता है, उसी क्षण हमें सजग होना होता है, बाद में नहीं। लेकिन हम सजग होते हैं बाद में, और कहा करते हैं, “हे भगवान, मुझे ध्यान देना चाहिए था, बड़ी गड़बड़ है, मैं देख सकता हूँ कि ध्यानपूर्वक होना कितना महत्त्वपूर्ण है, और मैं नहीं जानता कि ध्यानपूर्वक रहूँ कैसे; मैं तो चूक जाता हूँ, और जब कुछ होने लगता है, तो सब इतनी जल्दी हो जाता है, और मैं अपने से कहता ही रह जाता हूँ कि मुझे सावधान, ‘अटेन्टिव’ होना चाहिए!” तो मैं वैसा बनने के लिए खुद के पीछे पड़ा रहता हूँ—समझ रहे हैं आप?-और इसलिए मैं कभी भी ध्यानपूर्वक नहीं रह पाता। तो मैं स्वयं से कहता हूँ, “मैं उस क्षण ध्यान नहीं देता हूँ जब कुछ ऐसा कहा जा रहा हो जो मुझे सुख या पीड़ा देता है”। मैं देखता हूँ कि मैं असावधान हूँ। मैंने पाया है कि मेरा पूरा मन, पूरी बनावट, अवधानहीन है, ‘इनअटेन्टिव’ है; मैं ध्यान नहीं देता, पक्षियों पर, प्रकृति पर, किसी चीज़ पर मैं ध्यान नहीं देता—जब मैं चल रहा होता हूँ, खा रहा होता हूँ, बोल रहा होता हूँ, मेरा ध्यान वहाँ नहीं होता। तो मैं अपने आप से कहता हूँ, “मैं अवधान के, ध्यान देने के बारे में फिक्र नहीं लूँगा, बल्कि मेरा सरोकार अनवधान से, ध्यान न देने से होगा”। यह बात आपकी पकड़ में आयी?

प्रश्नकर्ता: हाँ।
कृष्णमूर्ति: तो मेरा सरोकार अब ध्यानपूर्वक रहने से नहीं है, बल्कि मैं यह देखने जा रहा हूँ कि अनवधान क्या है, ध्यान न देना क्या है। मैं इस अनवधान को ध्यान से देख रहा हूँ, और मुझे यह नज़र आता है कि अधिकांश समय मैं असावधान हूँ, ध्यान नहीं दे रहा हूँ। तो अब मैं एक समय में एक ही चीज़ पर ध्यान देने जा रहा हूँ, मतलब यह कि जब मुझे चलना हो, जब मुझे खाना हो, तो मैं ध्यानपूर्वक चलने वाला हूँ, ध्यानपूर्वक खाने वाला हूँ। मैं किसी और चीज़ के बारे में नहीं सोचने जा रहा, बल्कि हर छोटी चीज़ पर ध्यान देने जा रहा हूँ। तो जो अनवधान, ध्यान न देना हुआ करता था, वह अवधान हो जाता है, ध्यान देना हो जाता है। पता नहीं आप इसे देख पा रहे हैं कि नहीं?

तो अब मैं अनवधान को देख रहा हूँ। यानी मैं देख रहा हूँ कि मैं अवधानयुक्त नहीं हूँ, ध्यान नहीं दे रहा। मेरी किसी पक्षी पर नज़र पड़ती है, पर मैं कभी उसे देखता ही नहीं, बस मुझमें विचार मँडराते रहते हैं चहुँओर-तो अब मैं उस पक्षी को देखने वाला हूँ, इसमें मुझे पल दो पल लग सकते हैं, पर मैं उसे देखने जा रहा हूँ। और जब मुझे चलना होगा, तो मेरी तवज्जो चलने पर होगी। ताकि अनवधान में से, बिना किसी प्रयास के, पूर्ण अवधान वजूद में आए। और जब पूर्ण अवधान हो, तो जब आप कुछ प्रिय या अप्रिय कहते हैं, तब छवि बनने का काम होता ही नहीं, क्योंकि मेरी वहाँ पूरी मौजूदगी होती है। मेरा समग्र मन, हृदय, मस्तिष्क, मेरी सारी प्रतिक्रियाएँ, सब पूरी तरह से जाग्रत तथा सावधान होते हैं। क्या आप उस वक्त खूब सावधान नहीं होते, जब आप सुख की खोज में जुटे होते हैं। तब आपको ध्यान देने के बारे में संवाद की ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि आपको वह सुख चाहिए ही चाहिए। जब आपको सेक्स का सुख चाहिए होता है, तो आप असाधारण रूप से ध्यान दे रहे होते हैं, क्या ऐसा नहीं होता? तो अवधान में निहित है एक ऐसा मन, जो पूरी तरह जागा हुआ है, जिसका अर्थ हुआ कि उसे चुनौती की ज़रूरत नहीं। चुनौतियाँ आती ही तब हैं, जब हममें छवियाँ मौजूद हों। पता नहीं आप इसे समझ रहे हैं कि नहीं। चुनौतियाँ उन छवियों की वजह से आती हैं, और इन चुनौतियों को दिये जा रहे आपके जवाब आधे-अधूरे हुआ करते हैं। और इसलिए चुनौती और आपके जवाबों के बीच लगातार लड़ाई छिड़ी रहती है, जिसका अभिप्राय होता है छवियों में बढ़ोतरी; और जितनी अधिक यह बढ़ोतरी होती है, चुनौतियाँ भी बढ़ती जाती हैं, और इस तरह छवियाँ हमेशा और मज़बूत बनती जाती हैं। देख रहे हैं आप? क्या आपने देखा नहीं है कि लोगों को जब उनके कैथोलिक होने या कुछ और होने को लेकर चुनौती मिलती है, तो किस तरह वे अपनी मान्यताओं में और अधिक सुदृढ़ हो जाते हैं। तो पूरी तरह से अवधानयुक्त होने पर, 'अटेन्टिव' होने पर छवि-निर्माण होता ही नहीं, जिसका अर्थ है, संस्कारबद्धता का, 'कंडीशनिंग' का लोप हो जाता है, वह खत्म हो जाती है।

8

दुःख; मृत्यु का अर्थ

"चेतना में उत्परिवर्तन, 'म्यूटेशन', समय का अंत है, जो कि उस 'मैं' का अंत है जिसका निर्माण समय के ज़रिये किया गया है। क्या यह उत्परिवर्तन वस्तुतः घटित हो सकता है? या फिर, यह भी अन्य सिद्धांतों की भांति एक सिद्धांत मात्रा है?"

जो चर्चा उस दिन चल रही थी, क्या हम उसे जारी रखें? हम कह रहे थे कि संसार में जो संकट है, वह बाहर नहीं है बल्कि यह संकट चेतना में ही है। और इस चेतना की अंतर्वस्तु ही यह चेतना है: वे सब चीज़ें जिन्हें मनुष्य सदियों से संचित करता रहा है, उसके भय, उसके मत-सिद्धांत, उसके अंधविश्वास, उसकी आस्थाएँ, उसके निष्कर्ष और समस्त दुःख, पीड़ा और चिंताएँ। हमने कहा था कि जब तक इस चेतना में एक आमूल-चूल उत्परिवर्तन, नहीं होता, बाहर के क्रियाकलाप अधिकाधिक अनिष्ट, अधिकाधिक विषाद तथा उलझनें ही लाते जाएँगे। और चेतना में उस उत्परिवर्तन, उस 'म्यूटेशन' के घटित होने के लिए एक पूर्णतः भिन्न प्रकार की ऊर्जा की दरकार होती है; न कि विचार, समय और मापन की यांत्रिक ऊर्जा की। उसकी तहकीकात करते वक्त हमने कहा था कि मनुष्य में तीन सक्रिय तत्त्व होते हैं: भय, सुखाकांक्षा तथा दुःख। हमने भय के बारे में कुछ विस्तार से बात की थी। और हमने सुख के, मज़े के प्रश्न को भी लिया था, जो उल्लास से, आनंद से और किसी सौंदर्य को देखने पर होने वाले आह्लाद से पूरी तरह से भिन्न होता है; और भी बातें हमने की थीं। और दुःख के प्रश्न को भी हमने कुछ हद तक छुआ था।

मैं सोच रहा हूँ कि आज की सुबह हमें दुःख के उस प्रश्न में पैठना चाहिए। माफी चाहता हूँ कि इतनी सुहानी सुबह हम ऐसे घोर विषय में प्रवेश कर रहे हैं। जैसा कि हमने कहा था, जहाँ दुःख है, वहाँ करुणा नहीं हो सकती, और हमने यह पूछा था कि क्या मनुष्यों के मन, समस्त संसार के मनुष्य प्राणी दुःख का अंत कर सकते हैं, क्या ऐसा करना संभव है उनके लिए। क्योंकि उस दुःख का अंत हुए बगैर, हम अंधकार में जीते हैं, हम हर प्रकार के विश्वासों, मत-सिद्धांतों, पलायनों को स्वीकार कर लेते हैं, जिससे और अधिक उलझन, और

अधिक हिंसा और ऐसी तमाम चीज़ें पैदा होती हैं। अतः आज सुबह हम साथ-साथ इस दुःख के प्रश्न की तहकीकात करने जा रहे हैं कि क्या मनुष्य का मन इससे कभी पूरी तरह से मुक्त हो सकता है अथवा नहीं; और हम मृत्यु के इस पूरे प्रश्न के सिलसिले में भी बात करने जा रहे हैं।

क्यों हम दुःख को स्वीकार कर लेते हैं, मानसिक रूप से हम इसे सहते क्यों चले जाते हैं? शारीरिक दुःख पर काबू पाया जा सकता है या उसे बर्दाश्त किया जा सकता है; और यह महत्त्वपूर्ण है कि ये शारीरिक दुःख विचार की स्पष्टता को विकृत न करने पाएँ। हमने इस पर बात की थी। क्योंकि हममें से ज़्यादातर के साथ होता यह है कि जब शारीरिक पीड़ा होती है, लगातार उस तकलीफ से गुज़रना पड़ता है, तो उससे हमारे सोचने में विकृति आने लगती है, उसके चलते वस्तुनिष्ठ रूप से विचार नहीं हो पाता, और सोच मेरी-तेरी, खंडित तथा विकृत होती जाती है। यदि हम शारीरिक दुःखभोग की इस समस्त प्रक्रिया के प्रति-वह चाहे उसके अतीत में होने की याद हो, या भविष्य में उसके फिर से होने का भय हो-सक्रिय रूप से सजग नहीं होते, तो झक्की हरकतें, अजीब आदतें पैदा हो जाया करती हैं। उस दिन हमने इस पर संक्षेप में बात की थी।

हम पूछ रहे हैं कि क्या मनुष्य प्राणियों के लिए यह संभव है कि वे अपने अस्तित्व के सभी स्तरों पर दुःख-पीड़ा का अंत कर सकें, मानसिक दुःख-पीड़ा का। और खुद की गहराइयों में हम जब इसकी पड़ताल करते हैं, तो हम देख पाते हैं कि इस दुःख के मुख्य घटकों में से एक है, आसक्ति-धारणाओं से, निष्कर्षों से, विचारधाराओं से आसक्ति, जो सुरक्षा-कवच के रूप में काम करती लगती है; और जब वह सुरक्षा संकट में होती है तो हम पर एक किस्म का दुःख बरपा हो जाता है। देखिए, जैसा कि हमने उस दिन कहा था, हम इसमें मिल-जुल कर सहभागी हो रहे हैं, इसे शेयर कर रहे हैं, साथ-साथ जाँच कर रहे हैं दुःख के इस प्रश्न की। आप महज़ एक वार्ता नहीं सुन रहे हैं, यदि मैं ध्यान दिला सकूँ, महज़ कुछ विचार इकट्ठे करके सहमत या असहमत नहीं हो रहे हैं, बल्कि हम परस्पर संवाद में हैं, इस समस्या में सहभागी हो रहे हैं, इस प्रश्न की, इस मुद्दे की सक्रियता से जाँच-पड़ताल कर रहे हैं; और इस तरह यह हमारी ज़िम्मेदारी बन जाती है, आपकी और साथ-साथ इस वक्ता की भी, कि हम इस प्रश्न में गहरे जाएँ।

और फिर एक आसक्ति व्यक्तियों से भी हुआ करती है; हमारे संबंधों में बहुत सारा दुःख मौजूद है। अर्थात, हो सकता है किन्हीं दो में से कोई एक, भय इत्यादि की इस संस्कारबद्धता से मुक्त हो, और दूसरा मुक्त न हो, और इस वजह से एक खिंचाव की स्थिति रहे। आसक्ति शब्द का, 'अटैचमैन्ट' शब्द का अर्थ है 'पकड़े रखना', सिर्फ शारीरिक तौर पर नहीं, बल्कि मानसिक तौर से, किसी चीज़ पर आश्रित हो जाना। किसी संबंध में, हो सकता है एक व्यक्ति मुक्त हो, और दूसरा मुक्त न हो और इसलिए द्वंद्व रहे; एक कैथोलिक हो, और दूसरा कैथोलिक, या कम्यूनिस्ट, या और कुछ, न हो। और इसलिए द्वंद्व बना रहे, जिससे लगातार

तनाव और दुःख उपजते रहते हैं।

और फिर एक दुःख है उस अज्ञात का, मृत्यु का; किसी को खो देने का दुःख, जिससे अतीत में आपकी आसक्ति थी, स्मृति के रूप में। पता नहीं खुद के भीतर इन चीज़ों पर आपका कभी ध्यान गया भी है या नहीं। और क्या किसी के साथ संपूर्ण संबंध में जीना संभव है, बिना इस तनाव के जो स्वार्थपरता, आत्मकेंद्रित क्रियाकलाप, अलग-अलग दिशाओं में खींच रही इच्छा के ज़रिये पैदा होता है; क्या ऐसे संबंध में जीना संभव है, जिसमें अंतर्विरोध भी हो सकते हैं, क्योंकि मुमकिन है एक व्यक्ति मुक्त हो, और दूसरा मुक्त न हो। उस स्थिति में जीने-रहने के लिए न केवल तथाकथित सहिष्णुता की ज़रूरत पड़ती है—जो मनुष्य द्वारा ईजाद की गयी एक बौद्धिक निरर्थकता भर है—बल्कि इसके लिए दरकार होती है उससे भी कहीं अधिक उत्कृष्ट तत्त्व की, जो स्नेह है, प्रेम है, अतएव करुणा है। हम आगे उसकी बात करने वाले हैं।

हम पूछ रहे हैं कि क्या मनुष्य दुःख का अंत कर सकता है। विविध व्याख्याएँ उपलब्ध हैं: कैसे इस दुःख के पार चले जाएँ, कैसे इसकी कोई बुद्धिसंगत व्याख्या कर लें, कैसे इसे भीतर दबा लें, कैसे इससे भाग जाएँ। अब, हम कुछ ऐसा करने को कह रहे हैं जो इस सब से पूर्णतः भिन्न है: हम इसका दमन करने को, इससे बच निकलने को, या इसे बुद्धिसंगत बना लेने को नहीं कह रहे, बल्कि यह कह रहे हैं कि जब इस दुःख की मौजूदगी हो, तो पूरी तरह से इसके साथ बने रहें, विचार की किसी भी हलचल के बिना जो कि समय और माप-जोख की गति ही है।

व्यक्ति दुःख से गुज़रता है: कोई अपने बेटे को, या पत्नी को खो देता है, या वह किसी और के साथ चली जाती है; और वे चीज़ें जिनमें आपकी आसक्ति है, यह मकान, यह नाम, यह रूप, सारे के सारे संचित निष्कर्ष, वे सब विलीन होते-से प्रतीत होते हैं, और आप दुःख भोगते हैं। क्या हम उस दुःखभोग को, अवलोकनकर्ता के बगैर देख सकते हैं? अवलोकनकर्ता क्या है, देखने वाला क्या है, इस प्रश्न की छानबीन हमने की थी। हमने कहा था कि वह अवलोकनकर्ता अतीत ही है, वह है संचित स्मृति, अनुभव तथा जानकारी। और उस जानकारी, अनुभव, स्मृति के साथ हम उस दुःख का अवलोकन करते हैं, और इस तरह हम खुद को उस दुःख से अलग कर लिया करते हैं और इसलिए हमें लगने लगता है कि हम उसके बारे में कुछ कर सकते हैं। जबकि वह देखने वाला ही वह भी है जिसे वह देख रहा है, द्रष्टा ही दृश्य है।

यह कथन कि "द्रष्टा ही दृश्य है; अवलोकनकर्ता ही अवलोकन का विषय है", इस पर थोड़ी तवज्जो की, ध्यान देने की दरकार है। हम इसे कबूल नहीं करते। हम कहते हैं कि वह अवलोकनकर्ता तो कतई भिन्न होता है; और वह जिसे देखा जा रहा है, कुछ ऐसा है जिसकी मौजूदगी देखने वाले से कहीं बाहर, अलग हुआ करती है। अब अगर हम इस प्रश्न को

एकदम करीब से देखें, इस कथन को कि अवलोकनकर्ता ही अवलोकन का विषय है, 'ऑब्ज़र्वर इज़ दि ऑब्ज़र्व्ड', तो इसे समझना बिलकुल सरल है। जब आप कहते हैं कि आप गुस्से में हैं, तब आप उस गुस्से से भिन्न थोड़े ही होते हैं, आप ही तो वह एहसास होते हैं जिसे आप गुस्सा कह रहे हैं। जब आप ईर्ष्यालु होते हैं तो आप ही तो वह ईर्ष्या हैं। वह जो शब्द है, वही अलग कर देता है आपको। कहने का मतलब यह कि, हम उस एहसास को उस शब्द के माध्यम से पहचाना करते हैं, और वह पहचान अतीत में ही कहीं है, वहीं से आ रही है; तो हम उस एहसास को शब्द के माध्यम से, अतीत के परदे में से देखते हैं, और इस तरह उसे पृथक् कर देते हैं। और इसलिए, अवलोकन करने वाले तथा अवलोकन के विषय के मध्य यह विभाजन हो जाता है।

हमारा कहना है कि जब यह दुःख घटित हो रहा हो, वह चाहे क्षणिक हो, अथवा कारणों की कोई सतत, अंतहीन शृंखला हो जो उस दुःख को, उस वेदना को जन्म दे रही है, तो उसे आप देखें, उस अवलोकनकर्ता के बगैर। आप ही वह दुःख हैं, आप उस दुःख से पृथक् नहीं हैं, जुदा नहीं हैं। पूरी तरह से उस दुःख के साथ बने रहें, ठहरें। तब आपके ध्यान में आएगा-अगर आप उतनी दूर तक जाते हैं, अगर आप उतनी घनिष्ठता से अवलोकन करने को, देखने को राजी हैं—कि कुछ बिलकुल अलग ही घटित होता है: एक उत्परिवर्तन, एक 'म्यूटेशन'। यानी कि, उस दुःख में से आविर्भाव होता है एक उत्कट आवेग का, 'पैशन' का। अगर आप इसे करके देख पाए, परख पाए इसे, तो आपको इसका पता चल जाएगा। यह किसी आस्था का आवेग, किसी विश्वास से पैदा हुई तड़प नहीं है, किसी उद्देश्य के लिए, किसी मूढ़तापूर्ण निष्कर्ष के लिए प्रकट हुआ आवेग नहीं है। और यह पूर्णतः भिन्न है इच्छा के उस आवेग से। बात यहाँ पूरी तरह से एक भिन्न प्रकार की ऊर्जा के आयाम की है; आवेग विचार की गतिविधि नहीं, वह तो यांत्रिक हुआ करती है।

जिसे प्रेम कहा जाता है, उसमें तो हमें बड़े दुःख-दर्द से दो-चार होना होता है। प्रेम सुख है, 'प्लैश्जर' है, जैसा कि सम्प्रति इसे हम जानते हैं, सेक्स का सुख, किसी देश से प्रेम, किसी विचार से प्रेम, और वही सब-इन सभी की उत्पत्ति सुख से ही हुई है। और जब हमें उस सुख से वंचित किया जाता है, तब या तो नफरत पैदा होती है, या वैरभाव, या फिर हिंसा। क्या ऐसा प्रेम संभव है, आपके और मेरे या किसी और के बीच कोई निजी वाकया भर नहीं, अपितु करुणा का वह अगाध भाव-हर चीज़ के लिए, हर किसी के लिए तड़प, 'पैशन'। प्रकृति के लिए तड़प, आवेग, इस पृथ्वी के लिए करुणा जिस पर हम रहते हैं, ताकि हम नष्ट न करें पृथ्वी को, जीव-जंतुओं को, इस सारे परिवेश को...। बिना प्रेम के, जो कि करुणा है, दुःख का जारी रहना लाज़िमी है। और हम मनुष्य-प्राणी इसे सहते आये हैं, हमने इसे प्रकृतिदत्त, सामान्य मान लिया है। हर धर्म ने इससे निकल पाने की जुगत खोजने का यत्न किया है, पर हुआ इसके उलट ही है, संगठित धर्म अपार दुःख का हेतु बनते रहे हैं।

पूरे संसार में, संगठित धर्मों ने बड़ी भारी क्षति पहुँचाई है, धार्मिक युद्ध छिड़ते रहे हैं, अंतहीन

धार्मिक दंडविधान, यातनाएँ, लोगों को ज़िंदा जलाया गया है, विशेषकर पश्चिम में-पूर्व में उन दिनों यह सब प्रचलित नहीं था। और हम बात कर रहे हैं—दुःख को स्वीकार कर लेने की नहीं, या दुःख को सहते जाने की नहीं-बल्कि उस दुःख के साथ निश्चल रहने की, बिना कोई गति किए उसके साथ ठहर पाने की; तब वहाँ से, अपार करुणा का आगमन होता है। और उस करुणा से, सृजन का यह पूरा प्रश्न सामने आता है।

सृजन क्या है, क्या होता है एक सृजनशील, 'क्रिएटिव' मन? क्या यह ऐसा मन है जो दुःख से गुज़रा है, और उस दुःख के ज़रिये उसने कोई विशेष निपुणता सीख ली है और उस निपुणता को वह कागज़ पर, संगमरमर पर, रंगों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है—अर्थात, क्या सृजनशीलता तनाव का नतीजा है? क्या यह एक अस्तव्यस्त जीवन का नतीजा है? क्या सृजनशीलता रोज़मर्रा के जीवन के खंडित, टूटे-बिखरे क्रियाकलाप से पैदा होती है? पता नहीं कि आप यह सब समझ रहे हैं या नहीं? या फिर, क्या हम सृजनशीलता को एक पूरी तरह से अलग प्रकार के अर्थ में लें: सृजनशीलता जिसमें अभिव्यक्ति की अनिवार्यता है ही नहीं?

अतः व्यक्ति को स्वयं के भीतर इस प्रश्न में बहुत गहरे पैठना होगा, क्योंकि उसकी चेतना ही इस संसार की चेतना है। क्या आपको एहसास है इस बात का? आधारभूत तौर पर, आपकी चेतना ही इस वक्ता की चेतना है, शेष संसार की चेतना है, मूल रूप से। क्योंकि उस चेतना में दुःखभोग है, पीड़ा है, दुश्चिंता है, आने वाले कल का भय है, असुरक्षित हो जाने का भय है, जिससे हर शख्स गुज़रता है, चाहे वह कहीं भी रह रहा हो। तो आपकी चेतना इस संसार की चेतना है, और यदि उस चेतना में कोई उत्परिवर्तन घटित होता है, तो उससे मनुष्य प्राणियों की कुल चेतना प्रभावित होती है। यह एक तथ्य है। इसलिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि मनुष्य प्राणी अपने आप में, अपनी चेतना में एक आमूल-चूल रूपांतरण, या उत्परिवर्तन ला सकें।

अब हम मृत्यु नामक इस विषय पर बात कर सकते हैं, जो दुःख के प्रमुख घटकों में से एक है। जैसा कि ज़िंदगी में बाकी हर मसले के साथ है, हमें कोई न कोई तत्काल, सुनिश्चित जवाब चाहिए होता है, ऐसा जवाब जो राहत-आराम दे, जो बौद्धिक रूप से, भावनात्मक, दैहिक, हर तरह से पूर्णतः संतुष्टिदायक हो। हमें अमरता चाहिए, चाहे जो उसका अर्थ हो, और हम कायम रहना चाहते हैं, दैहिक और मानसिक दोनों रूपों में। हम हर कीमत पर मृत्यु को टालना चाहते हैं, जितना संभव हो उतना दूर इसे रखना चाहते हैं। इसलिए हम कभी भी निकट से इसकी जाँच नहीं कर पाए। हम कभी भी इसका सामना नहीं कर पाए, इसे समझ नहीं पाए, सिर्फ शाब्दिक और बौद्धिक स्तर पर नहीं, बल्कि पूर्ण रूप से। हम अंतिम पल तक मुल्तवी ही करते रहते हैं, वह पल किसी दुर्घटना का, बीमारी का, बुढ़ापे का, कुछ भी हो सकता है, जब आप न कुछ सोच पा रहे हों, न कुछ देख पा रहे हों, बस पगला-से गये हों। और तब आप कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, कुछ भी बन जाते हैं, इस चीज़ में या उस चीज़ में

विश्वास करने लगते हैं। तो इस सुबह हम यह जानने का जतन कर रहे हैं—शाब्दिक तौर पर नहीं, बल्कि असल में-कि मरने का अर्थ क्या होता है; इसका मतलब यह नहीं कि हम कह रहे हैं कि हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिए। बल्कि हम यह पूछ रहे हैं: क्या है संपूर्ण अर्थ मृत्यु कही जाने वाली इस घटना का, जो कि उसका अंत है जिसे हम जीवन के रूप में जानते हैं।

इस विषय की पड़ताल के लिए हमें यह पता लगाना होगा कि क्या समय में कोई विराम होता है। हो सकता है मृत्यु समय का रुक जाना हो। हो सकता है यह अंत हो, और इसलिए जिसका अंत होता है उसी का एक नया आरंभ होता है, उसका नहीं जिसका कोई सातत्य हो, निरंतरता हो। तो पहली बात यह कि क्या समय का अंत हो सकता है, क्या समय रुक सकता है?-घड़ी के मुताबिक कालानुक्रमिक समय, बीता हुआ कल, आज, और आने वाला कल, चौबीस घंटे, उस सब के अंत की बात नहीं हो रही, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या विचार और मापन के रूप में समय की समूची गतिविधि का अंत हो सकता है। वह गतिविधि, कालानुक्रमिक समय नहीं, बल्कि विचार के रूप में वह गतिविधि, जो तुलना करने की, माप-जोख की समूची प्रक्रिया है, क्या यह सारी प्रक्रिया थम सकती है? क्या विचार का, जो कि स्मृति से उठती प्रतिक्रिया है, और क्या जानकारी के रूप में अनुभव का-जानकारी हमेशा अतीत में होती है, जानकारी अतीत ही है—क्या इस पूरे के पूरे वेग का अंत हो सकता है? (तकनीक के क्षेत्र में नहीं; उसकी हमें चर्चा करने की भी ज़रूरत नहीं, वह तो ज़ाहिर ही है।) क्या इस गतिविधि का अंत हो सकता है? समय, आशा के रूप में, समय, किसी ऐसी घटना के रूप में जो कभी हुई थी और जिससे मन चिपका हुआ है, अतीत से आसक्ति, या अतीत से भविष्य में किसी अंजाम की शक्ल में होता हुआ प्रक्षेपण, एवं समय, अथ से इति तक उपलब्धि की रफ़्तार के भेस में-यह सारी हलचल जिसकी हम गिरफ्त में हैं। अगर कोई कहे, आने वाला कल है ही नहीं, मानसिक तौर पर, तो आपको धक्का लगेगा, क्योंकि कल तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है: कल आप सुखी होने वाले हैं, कल आप कुछ हासिल कर लेंगे, कल ही तो बीते कल की, या आज की आशाएँ पूरी होने वाली हैं, वगैरह, वगैरह। तो आने वाला कल नितांत अर्थपूर्ण बन जाता है—वह कल, जिसे विचार के रूप में अतीत से प्रक्षिप्त किया जा रहा है, 'प्रोजेक्ट' किया जा रहा है।

तो हम पूछ रहे हैं कि क्या उस समस्त वेग पर पूर्ण विराम लग सकता है, उसका समापन हो सकता है? समय ने, सदियों-सदियों से, इस केंद्र का निर्माण किया है, जो कि यह 'मैं' है। समय केवल अतीत नहीं है, आसक्ति, उम्मीद, तृप्ति के रूप में, विचार की उस बढ़ती-खिलती प्रक्रिया के रूप में, उसके उत्तरोत्तर परिष्कृत होते जाने पर्यंत। किंतु समय वह केंद्र भी है, जिसके इर्द-गिर्द हमारे तमाम क्रियाकलाप घटित होते हैं—'मैं', 'मेरा', 'हम' और 'वे'-राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सभी रूपों में। अतः यह 'मैं' समय का ही निष्कर्ष है, जो खुद में कुछ जोड़ता रहता है और खुद से कुछ निकालता रहता है, किंतु विद्यमान हमेशा रहता है यह केंद्र, जो कि समय का सारभूत है, 'एसेन्स' है। हम पूछ रहे हैं, क्या उस गति का

अन्त हो सकता है। ध्यान का समग्र प्रश्न यही है, यह नहीं कि कहीं आसन लगा लिया और कोई मंत्र, कुछ शब्द दोहराते रहे, कुछ करतब कर लिये-यह सब मूढ़तापूर्ण है, बेमानी है। मैं असहिष्णु नहीं हो रहा हूँ, लेकिन है वह सब बिलकुल बेतुका। तो इस सारे विषय का अन्वेषण करना, इसकी गहराई में जाना असाधारण रूप से दिलचस्प हो जाता है।

तब मृत्यु क्या है? क्या इसका उत्तर शब्दों के सहारे दिया जा सकता है, या फिर हमें इसको न केवल शाब्दिक रूप से, बल्कि अशाब्दिक रूप से, बिना शब्दों के भी देखना होगा। मृत्यु घटित होती है, देह-संरचना का अवसान होता है, गलत इस्तेमाल से, दुरुपयोग से, अतिभोग से, शराब, नशीले द्रव्य, दुर्घटना, वे तमाम चीज़ें जो शरीर ने विरासत में पायी हैं—यह मरता है, इसका अवसान हो जाता है, दिल की धड़कन रुक जाती है, दिमाग का अपनी सारी अद्भुत मशीनरी समेत अंत हो जाता है। इसे हम स्वीकार कर लेते हैं—हम दैहिक संरचना के अंत से भयभीत नहीं हैं, हमारा भय तो किसी पूरी तरह से अलग चीज़ को लेकर है। और मूलतः उस से भयभीत होने के चलते, हम उस भय का समाधान विविध विश्वासों, निष्पत्तियों, आशाओं के ज़रिये कर लेना चाहते हैं।

पूरा एशियाई जगत पुनर्जन्म में विश्वास करता है, उनके पास इसके प्रमाण हैं—कम से कम वे कहते तो ऐसा ही हैं। मतलब कि-देखिए इसे, विलक्षण है यह-वह हस्ती जो 'मैं' के रूप में, 'अहम्' के रूप में समय के द्वारा गढ़ी गयी है, उसका तब तक पुनर्जन्म होता रहता है जब तक वह पूर्ण न बन जाए और उस परम तत्त्व में न समा जाए, जो ब्रह्मन्, या जो भी आप उसे पुकारना चाहें, वह है। समय ने ही रचा है इस केंद्र को, इस 'मैं' को, इस 'अहम्' को, इस व्यक्तित्व को, चरित्र को, रुझानों-आदतों वगैरह को, और समय के ही ज़रिये, पुनर्जन्म के ज़रिये आप उस हस्ती को खत्म करने जा रहे हैं। क्या आप इस विसंगति को, इस बेतुकेपन को देख रहे हैं? विचार ने वह 'मैं', वह केंद्र निर्मित किया है, और क्रमविकास की, 'एवलूशन' की प्रक्रिया के ज़रिये, जो कि समय ही है, आप अन्ततोगत्वा उस केंद्र को विसर्जित कर देंगे और उस परम तत्त्व में समा जाएँगे। और इस विसंगति के बावजूद भी वे लोग इस पर ज़बरदस्त विश्वास रखते हैं। पिछले दिनों एक सज्जन से मेरी बात हो रही थी जिनकी इस पर गहन आस्था है। उन्होंने कहा, "यदि आपका इस पर विश्वास नहीं है, तो आप धार्मिक व्यक्ति ही नहीं हैं", और वह उठ कर चले गये। और ईसाइयत में इस 'मैं' की अलग ही ढंग की निरंतरता है, मृतोत्थान-गैब्रियल का बिगुल फूँकना और बाकी सब। जब आप पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं, तो उसमें महत्त्व की बात यह है कि आप आगे और भी जीवन जीने वाले हैं, और इस जीवन में आप अपने पिछले कर्मों की वजह से दुःख भोग रहे हैं। अतः महत्त्वपूर्ण यह है कि यदि किसी की इस विश्वास से वास्तव में, तत्त्वतः, पूर्णरूपेण प्रतिबद्धता है, तो उसका अर्थ होगा कि उसको अभी, इसी समय सही, सम्यक्, खूब ध्यान के साथ बरतना होगा, व्यवहार करना होगा। और वैसा हम करते नहीं हैं। उसके लिए तो अतिमानवीय ऊर्जा की ज़रूरत होगी।

इसमें कई सारी समस्याएँ शामिल हैं। अमरता क्या है एवं शाश्वतता क्या है—जो कि एक कालातीत, समयरहित अवस्था है—और उन मनुष्य प्राणियों का क्या होता है जो अभी भी समय के इस गतिप्रवाह में फँसे हुए हैं? हम मनुष्य प्राणी असाधारण रूप से जटिल, गैरज़िम्मेदाराना, भद्दा, बेवकूफी से भरा जीवन जिया करते हैं; हम एक-दूसरे की गर्दन पर सवार रहते हैं, अपने राजनीतिक तथा धार्मिक विश्वासों को लेकर, प्रामाण्यों को लेकर लड़ते रहते हैं, और हमारे रोज़मर्रा के जीवन द्वंद्वों का, टकरावों का अंतहीन सिलसिला हैं। और इसी की हमें निरंतरता चाहिए। और चूँकि हमारे जीवन इतने रीते हैं, निरर्थक शब्दों से इस कदर भरे हुए हैं, हम कहते हैं कि एक ऐसी अवस्था होती है जहाँ मृत्यु नहीं है, जहाँ अमरता है—जो एक ऐसी अवस्था है जहाँ समय की कोई गति, कोई हलचल है ही नहीं। तात्पर्य यह कि, समय ने सदियों के दौरान एक विकसित होते हुए 'स्व' की, 'मैं' की धारणा निर्मित की है। इसे समय के ज़रिये ही सहेजा गया है, जो क्रमविकास का एक हिस्सा है। और अपरिहार्य रूप से मृत्यु तो होती ही है, और मस्तिष्क की कोशिकाओं का, 'ब्रेन सेल्स' का अंत होने के साथ ही विचार का भी अंत हो जाता है। अतः व्यक्ति उम्मीद लगाता है कि कुछ तो है उस 'मैं' के पार, कोई पराचेतना, कोई किरण ईश्वर की, या फिर सत्य की किरण, जिसे कोई कभी नष्ट न कर पाए, जिसमें निरंतरता विद्यमान रहे। उस निरंतरता को ही हम अमरता कहते हैं। हममें से अधिकांश इसी की कामना करते हैं। यदि आपको यह निरंतरता किसी किस्म की ख्याति के ज़रिये नहीं मिल पाती, तो आप इसे ईश्वर के-जो कालातीत है—निकट स्थान बनाकर हासिल कर लेना चाहते हैं। यह पूरा मामला ही एकदम असंगत है।

क्या कुछ ऐसा है जो समय के अंतर्गत नहीं आता, जिसका न कोई आरंभ है, न अंत, अतएव जो समयरहित है, शाश्वत है? जैसा कि हमारा जीवन अब है, हमारे सामने मृत्यु की यह समस्या है; और यदि मैंने, एक मनुष्य प्राणी के तौर पर, अपने होने के समग्र गुणधर्म को पूरी तरह से समझ नहीं लिया है, तो जब मैं मरता हूँ, तो मेरे साथ क्या होता है? आप इस प्रश्न को समझ रहे हैं? क्या वही मेरा अंत है? मैंने उसे नहीं समझा है; यदि मैंने स्वयं को पूरी तरह से समझ लिया है, तब यह एक अलग ही प्रश्न होगा, जिस पर हम आएँगे। लेकिन अगर मैंने अपने आप को पूरी तरह से नहीं समझा है—मैं 'समझना' शब्द का प्रयोग बौद्धिक अर्थों में नहीं कर रहा हूँ, बल्कि इस अर्थ में कि स्वयं के प्रति, अपनी चेतना की समस्त अंतर्वस्तु, जो भी कुछ उसमें है उसके प्रति वस्तुतः सजग रहना, बिना किसी चयन के-यदि मैं स्वयं की संरचना में, बनावट में, और चेतना की इस प्रकृति में गहरे नहीं पैठा हूँ, और मेरी मृत्यु हो जाती है, तब होता क्या है?

अब, इस प्रश्न का उत्तर कौन देने वाला है? (हँसी) नहीं, मैं यह प्रश्न किसी वजह से पूछ रहा हूँ। कौन इस प्रश्न का उत्तर देने वाला है? चूँकि हम सोचते हैं कि हम तो इसका उत्तर दे नहीं सकते, इसलिए हम किसी और का मुँह ताका करते हैं कि कोई और हमें बता देगा, वह पुरोहित, वे पुस्तकें, वे लोग जिन्होंने कहा है, "मैं जानता हूँ"-तेज़ी से उगते-पनपते गुरुओं की यह अंतहीन कड़ी। यदि कोई समस्त सत्ता-प्रामाण्य को नामंजूर कर दे-और इसको, तमाम

‘अथॉरिटी’ को, पूरी तरह से नामंजूर करना ज़रूरी है—तब आपके पास शेष क्या रहता है? तब आपके पास पता लगाने के वास्ते ऊर्जा होती है—क्योंकि आपने उस सब को नामंजूर कर दिया है जिससे ऊर्जा की बरबादी होती है, गुरु, आशाएँ और भय, और कोई यह बताने वाला कि क्या होता है—अगर आप इस सब को, अर्थात सारे सत्ता-प्रामाण्य को नामंजूर कर देते हैं, तब आपके पास अपार ऊर्जा होती है। उस ऊर्जा के साथ अब आप यह अन्वेषण आरंभ कर सकते हैं कि सच में होता क्या है, जब आपने इस ‘स्व’ की, ‘सेल्फ’ की संरचना और प्रकृति को पूरी तरह से नहीं समझा हो, इस प्रश्न का पूर्ण समाधान न कर लिया हो-‘स्व’ जो कि समय है, इसलिए एक गति है, एक हलचल, और इसी की वजह से ‘यह मैं’ और ‘यह मैं नहीं’ के बीच का विभाजन घटित होता है, जिससे द्वंद्व उपजता है।

तो मेरे साथ होता क्या है जब मैंने उस द्वंद्व का अंत न किया हो? आपके और मेरे, तथा बाकी संसार के, इस वक्ता के साथ, यदि उसने उस द्वंद्व का अंत नहीं किया हो, हमारे साथ क्या होता है? हम सभी मर जाने वाले हैं—आशा है कि जल्द नहीं, पर किसी न किसी वक्त तो मरना ही है। तब क्या होने वाला है? जब हम जीवित हैं, जिस तरह का जीवन हम जी रहे हैं, क्या हम किसी भी दूसरे से बुनियादी तौर पर बहुत भिन्न हैं? आप अधिक चतुर हो सकते हैं, आपके पास ज़्यादा जानकारी हो सकती है, बेहतर तकनीक हो सकती है, आप ज़्यादा विद्वान हो सकते हैं, आपमें प्रतिभा, कुदरत की कोई देन, आविष्कारकुशलता हो सकती है; लेकिन आम तौर से आप और कोई दूसरा बिलकुल एक जैसे हैं। आपका रंग अलग हो सकता है, आप कद से लंबे या छोटे हो सकते हैं, किंतु सार रूप से आप दोनों वही हैं। तो जब आप जी रहे हैं, आपका जीवन शेष संसार के समान ही है, उसी प्रवाह में, उसी गति में। और जब आप मरते हैं तो उसी गति में आपका सातत्य रहता है। क्या आप समझ रहे हैं जो मैं कह रहा हूँ? केवल वही व्यक्ति जो अपनी संस्कारबद्धता के प्रति, अपनी चेतना के प्रति और इसकी अंतर्वस्तु के प्रति पूरी तरह से सजग होता है, और जो इसमें अग्रसर होता है और इसका विसर्जन, इसका अंत कर देता है, वही उस प्रवाह में नहीं है। क्या मैं इसे स्पष्ट कर पा रहा हूँ? यानी कि मैं लोभी हूँ, ईर्ष्यालु हूँ, महत्त्वाकांक्षी हूँ, बेरहम हूँ, हिंसक हूँ—और वैसे ही आप भी हैं। और यही हमारा दैनिक जीवन है, क्षुद्र, मान्यताओं को ढोता, कलह से, कड़वाहट से भरा, प्रेम से वंचित और प्रेम पाने को तरसता हुआ, अकेलेपन की यातनाओं से घिरा, दायित्वहीन संबंध-यही है हमारा दैनिक जीवन। और हम बाकी संसार की तरह ही हैं; यह एक विशाल अंतहीन नदी के सदृश है। और जब हम मरेंगे, तो हम बाकी सब की तरह ही होंगे, उसी प्रवाह में गति करते रहेंगे जिसमें हम पहले हुआ करते थे जब हम जीवित थे। किंतु वह मनुष्य जो अपने आप को जड़मूल से समझता है, उसने अपने भीतर की सारी समस्याओं का, मानसिक तल पर, समाधान पा लिया है, वह उस प्रवाह का हिस्सा नहीं है। वह उससे बाहर निकल आया है।

जो आदमी उस प्रवाह से अलग हट गया है, उसकी चेतना पूरे तौर पर भिन्न होती है। वह समय, निरंतरता, या अमरता की भाषा में नहीं सोच रहा होता। किंतु वह दूसरा आदमी, या

औरत, अभी भी उसी अवस्था में है। अतः समस्या यह खड़ी होती है: जो मनुष्य बाहर आ गया है उसका उस मनुष्य से क्या संबंध है जो अभी भी वहीं, उसी प्रवाह में है? सत्य और वास्तविकता के बीच संबंध क्या है? वास्तविकता, जैसा कि हमने कहा था, वे सब वस्तुएँ हैं जिन्हें विचार ने जमा किया है। वास्तविकता शब्द का मूल अर्थ वस्तुएँ अथवा वस्तु है। और वस्तुओं के संसार में रहते हुए, जो कि वास्तविकता है, हम एक ऐसे संसार से संबंध कायम करना चाहते हैं जो अ-वस्तु है, 'नो थिंग' है—जो कि असंभव है।

हम यह कह रहे हैं कि चेतना, अपनी समस्त अंतर्वस्तु सहित, समय की वह हलचल है। इस हलचल में ही सारे मनुष्य प्राणी फँसे हैं। और जब वे मर जाते हैं, तब भी वह हलचल, वह गति जारी रहती है। ऐसा ही है; यह एक तथ्य है। और वह मनुष्य जो इसकी सकलता को देख लेता है—यानी इस भय, इस सुखाकांक्षा और इस विपुल दुःख-दर्द का, जो उसने खुद पर लादा है तथा दूसरों के लिए पैदा किया है, इस सारी चीज़ का, और इस 'स्व', इस 'मैं' की प्रकृति एवं संरचना का, इस सब का संपूर्ण बोध उसे यथार्थतः होता है—तब वह उस प्रवाह से, उस धारा से बाहर होता है। और वही चेतना में आर-पार का क्षण है। हम अपनी तमाम इनसानी समस्याओं के-वे आर्थिक हों, सामाजिक हों, या राजनीतिक-हल की कोशिश समय में अवस्थित उसी चेतना के क्षेत्र के भीतर-भीतर ही कर रहे हैं। देख रहे हैं आप? और इसीलिए हम कभी इन्हें हल नहीं कर पाते। लगता यह है कि हम किसी राजनेता को, या धर्मगुरु को, या मनोविश्लेषक को या किसी और को मान्यता दे दिया करते हैं कि इस संसार की रक्षा का भार अब उसी शख्स पर है। और जैसा कि हमने कहा, चेतना में उत्परिवर्तन, 'म्यूटेशन', समय का अंत है, जो कि उस 'मैं' का अंत है जिसका निर्माण समय के ज़रिये किया गया है। क्या यह उत्परिवर्तन वस्तुतः घटित हो सकता है? या फिर, यह भी अन्य सिद्धांतों की भांति एक सिद्धांत मात्रा है?

क्या कोई मनुष्य, क्या आप, सचमुच इसे कर सकते हैं? जब आप ऐसा कर पाते हैं, तो इससे चेतना की समग्रता, कुल चेतना प्रभावित होती है। जिसका अर्थ हुआ, अपने आप की समझ में, जो कि इस संसार की समझ है—क्योंकि मैं ही तो संसार हूँ—केवल करुणा का ही नहीं, बल्कि एक पूरी तरह से अलग तरह की ऊर्जा का भी आगमन होता है। इस ऊर्जा का, जिसमें करुणा समवेत है, एक पूर्णतः भिन्न प्रकार का कर्म होता है। वह कर्म समग्र होता है, विखंडित नहीं।

हमने शुरुआत की थी दुःख के बारे में चर्चा से, कि दुःख का अंत ही करुणा का आरंभ है; और फिर हमने प्रेम के इस प्रश्न पर बात की जिसे मनुष्य ने महज़ सुख का, मज़े का दरजा दे डाला है, और मृत्यु की इस विशाल जटिल समस्या पर भी चर्चा की। ये सब विषय आपस में जुड़े हुए हैं, अलग-अलग नहीं है। ऐसा नहीं है कि मैं बस मृत्यु की समस्या का समाधान कर लूँ, बाकियों को भुला कर। इस सारी चीज़ के तार परस्पर जुड़े हैं, एक संवाद-संचार है सबों के बीच। यह सब एक ही है। और इस सब के समूचेपन को पूरी तरह से देख पाना तभी

संभव है, जब कोई अवलोकनकर्ता, कोई 'ऑब्ज़र्वर' न हो, और इसलिए उस सब से स्वातंत्रय हो, मुक्ति हो।

प्रश्नकर्ता: मैं एक प्रश्न पूछना चाहूँगा। आपने शुरू में कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी चेतना को रूपांतरित करना महत्त्वपूर्ण है। आप जो कह रहे हैं कि यह रूपांतरण महत्त्वपूर्ण है क्या यही अपने आप में एक आदर्श नहीं है, जिस स्थिति से हमें बचना चाहिए?

कृष्णमूर्ति: जब आप किसी घर में आग लगी देखते हैं, तो क्या यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आप उस आग को बुझाएँ? इसमें कोई आदर्श नहीं है। घर जल रहा है, आप वहाँ मौजूद हैं, और आपको इस बारे में कुछ करना ही होगा। लेकिन अगर आप अचेत हैं और बहस कर रहे हैं उस आदमी के बालों के रंग को लेकर, जिसने घर में आग लगायी है...

प्रश्नकर्ता: जिस घर में आग लगी है, वह वास्तविकता के संसार का हिस्सा है, क्या ऐसा नहीं है? यह एक तथ्य है। हम मानसिक संसार के बारे में बात कर रहे हैं।
कृष्णमूर्ति: क्या वह भी एक तथ्यपरक संसार नहीं है? क्या यह तथ्य नहीं है कि आप दुःख भोगते हैं? क्या यह एक तथ्य नहीं है कि व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी है, लोभी है, हिंसक है—हो सकता है आप न हों, लेकिन बाकी हैं—यह एक तथ्य ही है। हम कहते हैं कि वह घर तो एक तथ्य है, पर मेरा क्रोध, मेरी हिंसा, मेरी मूढ़तापूर्ण गतिविधियाँ कुछ अलग ही मसला हैं; लेकिन ये उतनी ही तथ्यात्मक हैं जितना कि वह घर। और अगर मैं अपने आप को नहीं समझता, अपने अंदर के इस सारे क्लेश को नहीं मिटाता, तो यह घर एक विनाशक तत्त्व बनने ही वाला है।

प्रश्नकर्ता: सर, जैसा मैं इसे समझ रहा हूँ, आपका संदेश और ईसा मसीह का संदेश एक ही चीज़ तक पहुँचाता प्रतीत होता है, हालाँकि इसे कहा अलग तरीके से गया है। मैं हमेशा यह समझता था कि आपके संदेश और ईसा मसीह के संदेश की विषयवस्तु में काफी फर्क है। करीब दो साल पहले मैं एक क्रिश्चियन था, इस कारण ईसा की कुछ उक्तियों से छुटकारा पाना बहुत कठिन है, जैसे, "मुझसे होकर गये बिना कोई पिता के पास नहीं आ सकता"। हालाँकि इस समय मुझे आपके संदेश में अधिक सार्थकता नज़र आ रही है; आप इन्हें कैसे जोड़ते हैं?
कृष्णमूर्ति: यह बहुत सीधी-सी बात है। मेरा कोई संदेश नहीं है। मैं तो बस किसी ओर इंगित कर रहा हूँ। यह कोई संदेश नहीं हुआ।

प्रश्नकर्ता: किंतु आप यह कर क्यों रहे हैं?
कृष्णमूर्ति: मैं यह क्यों कर रहा हूँ। अच्छा, हम संदेश चाहते क्यों हैं? हम क्यों चाहते हैं कि कोई हमें कुछ दे? जब कि सब कुछ आपके भीतर ही है।

प्रश्नकर्ता: अति सुंदर।
कृष्णमूर्ति: नहीं, यह अति सुंदर नहीं है (हँसी), आप ज़रा इस पर गौर करें। आप तमाम प्रभावों के, इस संस्कृति के, कई सारे शब्दों के, प्रचार-प्रसार के परिणाम हैं, आप वह सब हैं। और यदि आप जानते हैं कि देखा कैसे जाता है, पढ़ा कैसे जाता है, सुना कैसे जाता है, अवलोकन कैसे किया जाता है, यदि आपको देखने की कला मालूम है, तो सब कुछ यहीं है, आपके ऐन सामने। किंतु हममें वह ऊर्जा, वह झुकाव, या वह रुचि ही नहीं है। हम बस यह चाहते हैं कि कोई हमें बता दे कि फलां पृष्ठ पर लिखा क्या है। और जो हमें यह बता दे, उसे हम एक अद्भुत मनुष्य बना देते हैं। हम उसे पूजने लगते हैं, या उसे खत्म कर देते हैं, बात एक ही है। तो सब कुछ हमारे सामने है। आपको किसी संदेश की ज़रूरत नहीं है। ज़रूर समझें इस बात को। क्या वह किताब महत्त्वपूर्ण है, या वह, जो आपने उस किताब से पाया है। और आप करते क्या हैं कि उस किताब को पढ़कर आपने जो पाया है, आप उसी को फेंक देते हैं। अब, इन वार्ताओं के दौरान, आप सुनिए, पता लगाइए, तहकीकात कीजिए, और तब, इस वक्ता को फेंक दीजिए। यह वक्ता कतई महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह तो एक टेलीफोन की तरह है।

दूसरा प्रश्न है, "आप क्यों बोलते हैं?" क्या इसका जवाब देने की ज़रूरत है? क्या राह के किनारे उगे उस फूल को आप कहेंगे, "तुम क्यों खिलते हो?" वह तो वहाँ पर बस है, आपके देखने के लिए, सुनने के लिए, उसकी सुंदरता निरखने के लिए, और फिर वापस लौटने और उसकी सुंदरता निहारने के लिए। बस इतना ही।

प्रश्नकर्ता: (कुछ अंश तक अश्रवणीय) हमारे पास वही संदेश है, वही शब्द हैं, हमारे अपने भीतर यह है, वही गुरु है।
प्रश्नकर्ता: (दोहराते हुए) हमारे अपने भीतर एक गुरु है।
कृष्णमूर्ति: "हमारे अपने भीतर एक गुरु है।" क्या आपमें है? संस्कृत में गुरु का अर्थ, इस शब्द का मूल अर्थ होता है 'भारी', 'हैवी'।

प्रश्नकर्ता: उन्होंने कहा 'हैवन', स्वर्ग।
कृष्णमूर्ति: स्वर्ग, एक ही बात है, सर। क्या आपके अपने भीतर स्वर्ग है? वल्लाह, काश आपके भीतर स्वर्ग होता! (हँसी)। आप अपने भीतर इतने दिग्भ्रमित, इतने परेशान, इतने चिंताग्रस्त हैं—और किन शब्दों का आप प्रयोग कर रहे हैं—स्वर्ग! आप ईश्वर की जगह स्वर्ग को ला सकते हैं, स्वर्ग के रूप में ईश्वर, और आप सोचते हैं कि आप काफी अलग बात कर रहे हैं। लोगों का विश्वास रहा है कि आपके भीतर ईश्वर है, आपके भीतर प्रकाश है, या और कुछ है। लेकिन जब आप सच में देख लेते हैं कि आपके भीतर कुछ नहीं है, बस शब्द हैं, तब, यदि पूरी तरह से कुछ न हो, अ-वस्तु, 'नथिंग', तो संपूर्ण सुरक्षा विद्यमान होती है। और फिर उसमें से, सब कुछ होता चला जाता है, खिलता जाता है।

9

वह पावन, धर्म, ध्यान

> "तो हम साथ-साथ निरीक्षण करने जा रहे हैं कि वास्तविकता क्या है, विचार की सीमाएँ क्या हैं, और, क्या विचार कभी भी सत्य का प्रत्यक्ष बोध कर सकता है। या फिर, यह विचार के क्षेत्र से परे है?"

> "ध्यानस्थ मन की इस गुणवत्ता का होना ज़रूरी है, कभी-कभार नहीं, बल्कि दिन भर। और यह, जो कि पावन है, हमारी ज़िंदगियों पर प्रभाव डालता है, न सिर्फ जागने की घड़ियों में, अपितु नींद के दौरान भी।"

क्या है वह, जो पावन है; धर्म का और ध्यान का अर्थ क्या है?-आज सुबह मैं इस पूरे प्रश्न पर चर्चा करना चाहूँगा। पहले तो हमें इस बात की जाँच करनी होगी कि वास्तविकता क्या है और सत्य क्या है। युगों-युगों से मनुष्य का सरोकार सत्य को खोज लेने से, या उसमें जीने से रहा है; और वह विविध प्रतीकों, निष्कर्षों, मन या हाथों द्वारा निर्मित प्रतिमाओं का प्रक्षेपण करता रहा है, और इस बात की कल्पना करता रहा है कि सत्य क्या है। या फिर उसने विचार के क्रियाकलाप एवं गतिशीलता के माध्यम से इस अन्वेषण का प्रयास किया है। मेरे ख्याल में हमारे लिए यह उचित होगा कि हम वास्तविकता व सत्य के बीच विवेक कर पाएँ और जब हम इस विषय में स्पष्ट हो जाएँगे कि वास्तविकता क्या है, तब सत्य क्या है, संभवतः इस बारे में अंतर्दृष्टि पाने में हम सक्षम हों।

संसार भर में बहुत-से धर्म ऐसा कहते रहे हैं कि एक चिरस्थायी, शाश्वत सत्य का वजूद है, लेकिन सत्य का महज़ कोई दावा करना खास मायने नहीं रखता। हर किसी को इसकी खोज-बीन खुद ही करनी होती है, सैद्धांतिक, बौद्धिक अथवा भावनात्मक तौर पर नहीं, अपितु उसे यथार्थ रूप से यह मालूम करना होता है कि क्या यह जीवन एक ऐसे विश्व में जिया जा सकता है जो पूरी तरह से सत्य से युक्त हो। धर्म से हमारा आशय है सारी ऊर्जा को एक साथ लाकर किसी तत्त्व का अनुसंधान करना: यह अनुसंधान कि क्या कुछ ऐसा है, जो

पावन है, पवित्र है। हम धर्म को यह अर्थ दे रहे हैं; यहाँ उस धर्म का ज़िक्र नहीं हो रहा है जो विश्वासों, मत-सिद्धांतों, परंपराओं या रीति-रिवाज़ों का धर्म है, जो उच्च या निम्न के नज़रियों में बँटा है। हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कर रहे हैं: समस्त ऊर्जा को इकट्ठा करना, जो तब यह तहकीकात करने में समर्थ होगी कि क्या ऐसा कोई सत्य है जिसे विचार द्वारा नियंत्रित न किया जा रहा हो, जिसे विचार द्वारा आकार न दिया गया हो, प्रदूषित न किया गया हो।

'वास्तविकता' शब्द का मूल अर्थ वस्तु या वस्तुएँ है। और वास्तविकता क्या है इस प्रश्न में जाने के लिए, हमें यह समझना होगा कि विचार क्या है। क्योंकि हमारा समाज, हमारे धर्म, हमारी तथाकथित अंतर्वाणियाँ, इलहाम बुनियादी तौर पर विचार की ही उपज हैं। यह मेरी राय या मेरी धारणा नहीं, बल्कि तथ्य है। सारे धर्म, जब आप उन पर गौर करते हैं, बिना किसी पूर्वाग्रह के उनका निरीक्षण करते हैं, तो आपको स्पष्ट होता है कि वे सब विचार की ही उत्पत्ति हैं। तात्पर्य यह कि, हो सकता है आपको कोई प्रत्यक्ष बोध हुआ हो, सत्य में आपको अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई हो, और आपने इसे शब्दों में मुझे बतलाया हो, और मैं आपके कथन में से अपने हिसाब से कुछ सार-संक्षेप निकाल कर उससे कोई धारणा बना लूँ, और फिर मैं उस धारणा के अनुरूप जीने लगूँ। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम यही करते आये हैं: किसी वक्तव्य से अपनी कल्पना का कोई सार निकालना और फिर निष्कर्ष के रूप में उसी कल्पना के अनुसार जीना। और इसी को आम तौर से धर्म कहा जाता है। अतः हमें यह छान-बीन करनी होगी कि विचार कितना सीमित है और इसकी क्षमताएँ क्या हैं, यह कितनी दूर तक जा सकता है, और इस बात के तईं पूरी तरह से होशमंद रहना होगा कि विचार उस क्षेत्र में न छलके-बिखरे, जहाँ विचार के लिए कोई स्थान नहीं है।

आप यह समझ पा रहे हैं क्या? देखिए, हम केवल शब्दों के सहारे ही संवाद नहीं कर रहे हैं, जिसका मतलब है, साथ-साथ सोचना; सहमत या असहमत होना नहीं, बल्कि साथ-साथ सोचना, विमर्श करना, मिलकर शेयर करना, सहभागी होना; ऐसा नहीं है कि यह वक्ता आपको कुछ दे रहा है और आप ले रहे हैं, बल्कि हम इसमें सहभागी हैं, अतः यहाँ कोई विशेषज्ञ नहीं है, 'अथॉरिटी' नहीं है। और एक अशाब्दिक संप्रेषण भी होता है, बिना शब्दों के संवाद, जो कहीं अधिक कठिन होता है, क्योंकि जब तक हम शब्दों के पूरे निहितार्थ को बिलकुल स्पष्ट रूप से न देख लें-कि मन किस तरह शब्दों में अटका हुआ है, शब्द कैसे हमारी सोच को आकार देते रहते हैं—और जब तक हम इस सब से परे न जा पाएँ, तब तक अशाब्दिक संवाद, जो कि कहीं अधिक अर्थपूर्ण है, हो नहीं पाएगा। यहाँ हम दोनों तरह का जतन कर रहे हैं: शब्दों के माध्यम से संवाद, तथा निःशब्द रूप से संवाद। इसका अर्थ है कि इसमें एक ही समय, एक ही स्तर पर तथा एक-सी प्रगाढ़ता के साथ हमारी रुचि का होना ज़रूरी है, अन्यथा हम संवाद नहीं कर पाएँगे। यह प्रेम सरीखा है; प्रेम एक ही समय, एक ही स्तर पर घटित हो रही वह प्रगाढ़ भावना है। नहीं तो आपका और मेरा एक-दूसरे से प्रेम नहीं है। तो हम साथ-साथ निरीक्षण करने जा रहे हैं कि वास्तविकता क्या है, विचार की सीमाएँ

क्या हैं, और, क्या विचार कभी भी सत्य का प्रत्यक्ष बोध कर सकता है। या फिर, यह विचार के क्षेत्र से परे है?

मेरे ख्याल से इस बात से हम सब सहमत हैं, कम से कम हममें से अधिकांश, यहाँ तक कि वैज्ञानिक भी, कि विचार एक भौतिक प्रक्रिया है, एक रासायनिक प्रक्रिया। अनुभव व स्मृति के रूप में संचित जानकारी से आ रहा प्रत्युत्तर ही विचार है। अतः विचार तत्त्वतः एक वस्तु है। पावन विचार, उदात्त विचार जैसा कुछ नहीं होता, यह बस एक वस्तु है। और यह वस्तुओं के संसार में कार्य करता है, जो तकनीकी का, सीखने का संसार है, सीखने की कला, देखने और सुनने की कला सीखना। वास्तविकता इसी क्षेत्र का सच है। जब तक हम इस नितांत जटिल समस्या को समझ नहीं लेते, हम इससे परे नहीं जा पाएँगे। हम दिखावा कर सकते हैं, या कल्पना कर सकते हैं, लेकिन दिखावे और कल्पना के लिए उस मनुष्य के भीतर कोई स्थान नहीं है, जो वाकई संजीदा है और यह जानने का इच्छुक है कि सत्य क्या है।

जब तक विचार की हलचल मौजूद है, जो समय और माप-जोख है, उस क्षेत्र में सत्य का कोई स्थान नहीं है। वास्तविकता वह है जो हम सोचा करते हैं और जो संशोधित हो रहे भविष्य में पिछली जानकारी से प्रक्षेपित किसी धारणा, किसी सिद्धांत, किसी आदर्श के रूप में विचार का कर्म है। यह सब कुछ वास्तविकता के संसार में ही है। हम उसी वास्तविकता के संसार में जीते हैं—यदि आपने स्वयं का अवलोकन किया हो तो आप देखेंगे कि किस तरह स्मृति की हमारे जीवन में एक बहुत बड़ी भूमिका होती है। स्मृति यांत्रिक होती है, विचार यांत्रिक होता है; जैसा कि यह मस्तिष्क है, यह एक तरह का कम्प्यूटर है, एक यंत्र। और विचार की अपनी एक जगह है। अगर मुझे कोई भाषा न आती हो, तो मैं बोल नहीं सकता; अगर मैं ग्रीक भाषा में बोलूँ तो आप मुझे समझ नहीं पाएँगे। कोई भाषा सीखनी हो, कार चलाना सीखना हो, फैक्टरी इत्यादि में काम करना हो, तो वहाँ विचार ज़रूरी है। मानसिक रूप से, विचार ने 'मैं' की वास्तविकता को उत्पन्न किया है। 'मैं', 'मेरा', मेरा घर, मेरी जायदाद, मेरी पत्नी, मेरा पति, मेरे बच्चे, मेरा देश, मेरा ईश्वर-यह सब विचार की ही उपज है। और उस क्षेत्र में हमने एक-दूसरे के साथ एक ऐसा संबंध बना रखा है, जो लगातार द्वंद्व की, टकराव की हालत में रहता है। यही विचार की सीमा है।

जब तक हम वास्तविकता के इस संसार में व्यवस्था स्थापित नहीं कर लेते, हम इसमें आगे नहीं बढ़ सकते। अपने दैनिक क्रियाकलाप को ही लें, तो हम एक अस्तव्यस्त जीवन जी रहे हैं; यह एक तथ्य है। और क्या वास्तविकता के इस संसार में, विचार की इस दुनिया में, सामाजिक लिहाज से, नीति और आचरण की दृष्टि से व्यवस्था लाना संभव है? और व्यवस्था लाएगा कौन वास्तविकता के इस संसार में? मैं एक अस्तव्यस्त जीवन जी रहा हूँ—अगर मैं ऐसा कर रहा हूँ तो-और चूँकि मैं अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित हूँ, क्या मैं अपने दैनिक जीवन के सारे क्रियाकलाप में व्यवस्था ला सकता हूँ? हमारा दैनिक जीवन विचार पर आधारित है, हमारे संबंध विचार पर आधारित हैं, क्योंकि मैंने आपकी एक छवि बना रखी है और आपने

मेरी कोई छवि बना रखी है, और जो संबंध है वह इन दो छवियों के बीच में है। ये छवियाँ विचार की उपज हैं, और विचार प्रतिक्रिया है स्मृति, अनुभव इत्यादि की। तो क्या वास्तविकता के संसार में व्यवस्था आ सकती है? यह वास्तव में एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जब तक वास्तविकता के संसार में व्यवस्था स्थापित नहीं की जाती, आगे की तहकीकात का कोई आधार ही नहीं है। क्या वास्तविकता के इस संसार में व्यवस्थित ढंग से व्यवहार करना संभव है—विचार द्वारा तय किसी पैमाने के हिसाब से नहीं, क्योंकि वह तो अव्यवस्था का ही हिस्सा होगा? क्या वास्तविकता के संसार में व्यवस्था कायम करना संभव है? जिसका अर्थ है, न युद्ध हो, न द्वंद्व हो, न विभाजन। व्यवस्था में उत्कृष्ट सदाचार निहित है सदाचार, सच्चा आचरण व्यवस्था का सार है—वह सदाचार नहीं जो किसी नक्शे, किसी दस्तूर के मुताबिक तय हो, क्योंकि वैसा आचरण तो यांत्रिक हो जाएगा, मशीनी हो जाएगा। तो यह व्यवस्था वास्तविकता के संसार में कौन लाने वाला है? मनुष्य ने कहा है, "ईश्वर इसे लाएगा। ईश्वर पर भरोसा कीजिए और आपके जीवन में व्यवस्था आ जाएगी। ईश्वर को प्रेम कीजिए और आप व्यवस्था उपलब्ध कर लेंगे।" किंतु यह व्यवस्था यांत्रिक बन जाती है क्योंकि हमारी लालसा है सुरक्षित रहने की, सलामत रहने की, जीने का कोई ढंग, या यों कहें कि सबसे आसान ढंग खोज निकालने की।

तो हम पूछ रहे हैं वास्तविकता के इस संसार में व्यवस्था कौन लाएगा, जहाँ उलझन-भ्रम है, बदहाली है, पीड़ा है, हिंसा है, और भी काफी कुछ है। क्या विचार उस वास्तविकता में-वास्तविकता के उस संसार में, जिसका निर्माण विचार ने ही किया है, व्यवस्था कायम कर सकता है? क्या आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं? साम्यवादियों का कहना है कि वातावरण को, परिवेश को नियंत्रित कीजिए, मनुष्य स्वतः व्यवस्थित हो जाएगा। मार्क्स के अनुसार राज्य की समाप्ति हो जाएगी-वह सब आपको मालूम ही है। उन लोगों ने व्यवस्था कायम करने की कोशिश की, किंतु मनुष्य अव्यवस्था में ही जी रहा है, रूस तक में! तो पता लगाने वाली बात यह है कि अगर विचार व्यवस्था को जन्म नहीं दे सकता, तो क्या चीज़ व्यवस्था लाएगी? मुझे नहीं मालूम कि यह आपके लिए एक प्रश्न है या नहीं, आपकी इसमें वस्तुतः रुचि है या नहीं? तो हमारा प्रश्न यह है, अगर विचार, जिसने जीवन में इस कदर अस्तव्यस्तता पैदा की है, वास्तविकता के इस संसार में स्पष्टता नहीं ला सकता, तो क्या वास्तविकता के क्षेत्र में, अथवा वास्तविकता के क्षेत्र का अवलोकन मुमकिन है, विचार की हलचल के बगैर। हम मिल पा रहे हैं इस बात पर? मनुष्य प्राणी विचार का इस्तेमाल करता आया है, वह कहता है कि "अव्यवस्था है, और मैं इस अव्यवस्था पर काबू पा लूँगा, मैं इसे आकार दूँगा, मैं कुछ धारणाओं के मुताबिक व्यवस्था बना लूँगा"-यह सब विचार की ही उपज है। और अव्यवस्था को बनाया विचार ने है। इसलिए व्यवस्था में विचार के लिए कोई जगह है ही नहीं, तो फिर यह व्यवस्था किस प्रकार आएगी?

अब इसमें, हम थोड़ा आगे जाएँगे। क्या हम, किसी विचार को बीच में लाए बगैर देख सकते हैं इस अव्यवस्था को, जिसमें हम जी रहे हैं, जिसमें द्वंद्व, अंतर्विरोध, एक-दूसरे के खिलाफ

खड़ी चाहतें, दर्द, तकलीफ, डर, मज़ा और बाकी सब शामिल है, अव्यवस्था की इस पूरी के पूरी इमारत का, बिना किसी विचार के अवलोकन कर सकते हैं? क्या आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं? इस विराट अव्यवस्था को, जिसमें हम जी रहे हैं, बाहर और भीतर दोनों आयामों में, क्या आप इसको विचार की किसी भी गतिविधि के बगैर देख सकते हैं? क्योंकि अगर विचार की कोई भी हरकत होती है, तो उससे और भी अधिक अव्यवस्था पैदा होने वाली है, नहीं? तो क्या आप अपने भीतर इस अव्यवस्था का, समय और मापन के रूप में विचार की किसी भी गतिविधि के बिना अवलोकन कर सकते हैं—अर्थात स्मृति की किसी भी गतिविधि के बिना, यादों की किसी भी हलचल के बगैर?

हम यह देखने जा रहे हैं कि क्या समय के तौर पर विचार का अंत हो सकता है, या नहीं हो सकता। क्या माप-जोख के रूप में विचार, जो कि तुलना करना है, समय के तौर पर, यहाँ से वहाँ-समय की गति में वह सब शामिल है—क्या उस समय पर पूर्ण विराम लग सकता है? ध्यान का सारतत्त्व यही है। समझ रहे हैं? तो हम साथ-साथ यह अन्वेषण करने वाले हैं कि क्या समय पर विराम लग सकता है, अर्थात, क्या विचार का एक गति के तौर पर अंत हो सकता है। केवल तभी व्यवस्था का, अतएव सदाचार का आविर्भाव होता है। उस अभ्यास से पैदा सदाचार का नहीं जिसे समय की दरकार होती है और जो इस वजह से सदाचार है ही नहीं, अपितु विचार का थम जाना ही, उसका अंत होना ही सद्गुण है, सदाचार है। इसका अर्थ है कि हमें इस पूरे प्रश्न की तहकीकात करनी होगी कि स्वतंत्रता क्या है, मुक्ति क्या है। क्या मनुष्य स्वतंत्रता में वास कर सकता है? क्योंकि बात यहीं पर आ जाती है। यदि समय का अंत हो जाता है, तो अभिप्राय यह हुआ कि मनुष्य गहरे में स्वतंत्र है। तो इस प्रश्न की पड़ताल ज़रूरी है कि स्वतंत्रता क्या है। स्वतंत्रता क्या सापेक्ष होती है, या मुकम्मल होती है? यदि स्वतंत्रता सोच-विचार का परिणाम है, तो वह सापेक्ष होगी। जब स्वतंत्रता विचार द्वारा बँधी-सिमटी नहीं होती, तब वह समग्र है, मुकम्मल है। हम इसे और गहराई से देखने जा रहे हैं।

बाहरी तौर पर, राजनीतिक तौर पर, स्वतंत्रता अधिकाधिक कम होती जा रही है। हम सोचते हैं कि राजनेता तमाम समस्याओं को सुलझा सकते हैं, और नेता लोग, खास करके निरंकुश राजनीतिज्ञ, अपने आप को ईश्वर समझने लगते हैं: वे सब जानते हैं, और आप कुछ नहीं जानते। भारत में यही तो हो रहा है, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का, नागरिक अधिकारों का, जैसा निरंकुश व्यवस्थाओं में होता है, हनन कर दिया गया है।* लोकतांत्रिक व्यवस्था में हमें चयन की, चुनाव की स्वतंत्रता है, हम लिबरल पार्टी, या कंज़र्वेटिव पार्टी, या लेबर पार्टी या अन्यों में से किसी को चुन सकते हैं। और हम सोचते हैं कि चुनने में समर्थ होने का मतलब स्वतंत्रता है। चयन तो बल्कि स्वतंत्रता का निषेध है। आप चुनते तब हैं जब आप स्पष्ट नहीं होते, जब चीज़ें सीधी-साफ नहीं सूझ रही होतीं, और आप इस भ्रम-भ्रांति में ही कुछ चुन लिया करते हैं; अतएव, चयन करने में स्वतंत्रता जैसा कुछ नहीं है—मतलब कि, मानसिक तौर पर। मैं इस कपड़े या उस कपड़े में से या ऐसी चीज़ों में से चयन कर सकता हूँ, किंतु हम सोचते हैं कि जब हममें चुनने की सामर्थ्य होती है, तो मानसिक रूप से भी हम स्वतंत्र होते

हैं। और हमारा कहना यह है कि चयन उलझन से, अस्पष्टता से, विचार की संरचना से जन्म लेता है, और इसलिए चयन स्वतंत्र नहीं होता। हम गुरुओं की, पुरोहितों की अधिसत्ता को स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि हम सोचते हैं वे जानते हैं और हम जानते नहीं। और अगर आप गुरु की इस पूरी धारणा की जाँच करें, जो इस देश में और अमेरिका में, तमाम दुनिया में एक परेशानी बनती जा रही है—माफ कीजिएगा मुझे गुरुओं से एलर्जी-सी है (हँसी), उनमें से बहुतों को मैं जानता हूँ, वे मुझे मिलने आते हैं (हँसी)। वे कहते हैं, "जो आप कह रहे हैं, वह तो सर्वोच्च सत्य है"-उन्हें खुशामद करना आता है! "किंतु हमारा वास्ता उन लोगों से है," उनका कहना है, "जो अज्ञानी हैं और हम बीच की कड़ी का काम करते हैं: हम उनकी सहायता करना चाहते हैं।" इस तरह वे अधिसत्ता बन बैठते हैं और इसलिए स्वतंत्रता का निषेध करते हैं। पता नहीं आपका इस बात पर ध्यान गया या नहीं कि एक भी गुरु ने निरंकुश शासन के खिलाफ आवाज़ नहीं उठायी।

जो मनुष्य यह जानना चाहता है कि स्वतंत्रता क्या है, उसे अधिसत्ता को, 'अथॉरिटी' को पूरी तरह से नकारना होगा, जो बहुत ही कठिन है, इसके लिए बड़े अवधान की, खूब ध्यान देने की दरकार होती है। हो सकता है हम किसी गुरु के, किसी पुरोहित के, किसी धारणा के प्रामाण्य को नकार दें, किंतु हम स्वयं के भीतर ही किसी सत्ता की, 'अथॉरिटी' की स्थापना कर लेते हैं—यानी, "मैं सोचता हूँ यही सही है, मैं जानता हूँ मैं क्या कह रहा हूँ, ऐसा मेरा अनुभव है"। यह सब व्यक्ति को अपनी बात का दावा करने का प्राधिकार दे देता है, जो किसी गुरु या किसी पुरोहित की मानिंद ही तो हुआ।

तकनीकी क्षेत्र को छोड़ दें तो, क्या यह मन सत्ता-प्रामाण्य से, परंपरा से मुक्त हो सकता है? सत्ता का, परंपरा का मतलब होता है किसी को अपना मार्गदर्शक कबूल कर लेना, जो हमें बताएगा कि हमें करना क्या है। और स्वतंत्र होना मनुष्य के लिए ज़रूरी है, यदि उसे किसी का चाकर, कोई गुलाम नहीं बनना है, मानवीय अस्तित्व की सुंदरता से, इसकी गहनता से वंचित नहीं होना है। क्या मन, ज़हनी तौर पर, मनोवैज्ञानिक अर्थ में, समस्त सत्ता को नकार सकता है?-अगर आपने पुलिस के प्राधिकार को नकारा तो आप मुश्किल में पड़ जाएँगे। तो मानसिक अर्थ में सत्ता को नकारने के लिए बहुत अधिक आंतरिक सजगता की ज़रूरत होती है। व्यक्ति सत्ता को इसलिए स्वीकार करता है, इसलिए उसका हुक्म बजाता है, क्योंकि उसके अपने भीतर अनिश्चितता और किंकर्तव्यविमूढ़ता होती है, अकेलापन होता है, और अभिलाषा होती है ऐसा कुछ पा लेने की जो चिरस्थायी हो, शाश्वत हो। और क्या विचार द्वारा निर्मित कुछ भी ऐसा है जो शाश्वत हो, चिरस्थायी हो? या विचार स्वयं ही अपने आप को स्थायित्व दे देता है? मन कुछ ऐसा चाहता है जिससे वह चिपका रह सके-कोई सुनिश्चितता, कोई मानसिक सुरक्षा। एक-दूसरे के साथ हमारे संबंधों में यही तो होता है। मैं मानसिक रूप से आप पर आश्रित होता हूँ—क्योंकि अपने आप में मैं अनिश्चित हूँ, भ्रमित हूँ, अकेला हूँ—मेरी आपसे आसक्ति है, आप मेरी मिल्कियत हैं, मैं आप पर हावी रहता हूँ। तो क्या इस संसार में रहते हुए स्वतंत्रता संभव है, बिना किसी अधिसत्ता के, बिना किसी छवि के, बिना

किसी आश्रितभाव के? और क्या स्वतंत्रता किसी चीज़ से हुआ करती है, या फिर स्वतंत्रता अपने आप में ही पूर्ण है?

क्या वास्तविकता के संसार में हमें स्वतंत्रता हो सकती है? आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं?-क्या आपके साथ मेरे संबंध में स्वतंत्रता की मौजूदगी हो सकती है? क्या स्त्री और पुरुष के बीच में जो संबंध है, उसमें स्वतंत्रता मुमकिन है, या वह नामुमकिन है?-इसका मतलब जो पसंद हो सो करने की स्वतंत्रता, वर्जना का अभाव अथवा यौन स्वच्छंदता नहीं। अपितु, क्या मनुष्य प्राणियों के बीच एक समग्र स्वतंत्रता का संबंध संभव है? मुझे नहीं मालूम कि आपने कभी अपने आप से यह प्रश्न पूछा है अथवा नहीं। आप कह सकते हैं कि ऐसा संभव है या संभव नहीं है। पर इसकी संभावना या असंभावना तो कोई उत्तर नहीं हुआ, यह पता लगाना आवश्यक है कि क्या हमारे संबंधों में स्वतंत्रता विद्यमान हो सकती है या नहीं, पूर्णरूपेण स्वतंत्रता। हमारे संबंधों में ऐसी स्वतंत्रता का वजूद तभी हो सकता है, जब व्यवस्था, 'ऑर्डर' मौजूद हो: व्यवस्था आपके, या किसी और के अनुसार नहीं, बल्कि अव्यवस्था का अवलोकन करने के अर्थ में। और वह अवलोकन विचार की गतिविधि नहीं है, क्योंकि अवलोकन करने वाला ही अवलोकन का विषय है; केवल तभी हमारे संबंधों में स्वतंत्रता का वजूद होता है।

अब हम एक और विषय की ओर मुड़ सकते हैं। अव्यवस्था की समग्र प्रकृति का अवलोकन कर लेने पर, हमारे जीवन में व्यवस्था वजूद में आती है। यह एक तथ्य है, यदि आप इसकी गहराई में गये हों। यहाँ से हम आगे बढ़ सकते हैं, यह खोज कर सकते हैं कि क्या विचार का अंत हो सकता है, क्या ऐसा हो सकता है कि विचार अपनी गति को, अपनी हलचल को जाने-समझे, अपनी खुद की सीमा को देख ले, और इसलिए रुक जाए। हम पूछ रहे हैं, क्या स्वतंत्रता में समय का कोई स्थान है। क्या स्वतंत्रता मन की एक ऐसी स्थिति है जिसमें समय होता ही नहीं?-समय अर्थात विचार की गति, समय और माप-जोख के रूप में। विचार गति है, समय के अंतर्गत गति। अर्थात, क्या यह मस्तिष्क, जो मन का हिस्सा है—जो शताब्दियों में विकसित हुआ है, सभी संचित स्मृतियों, जानकारियों, अनुभवों के साथ-क्या उस मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है जो समय से अनछुआ हो? क्या आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं? हमारा मस्तिष्क विविध प्रभावों द्वारा, इच्छाओं के पीछे भागमभाग द्वारा संस्कारित होता रहा है; और क्या मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है जो कतई भी संस्कारित नहीं है, 'कन्डीशन्ड' नहीं है? या फिर, क्या पूरा का पूरा मस्तिष्क ही संस्कारों से बँधा है और इसलिए मनुष्य प्राणी कभी भी संस्कारबद्धता से छुटकारा नहीं पा सकते? वे उसमें कुछ फेरबदल, कुछ रंग-रोगन कर सकते हैं, कुछ और परिष्कृत कर ले सकते हैं उसे, लेकिन संस्कारबद्धता हमेशा बनी ही रहेगी अगर पूरा का पूरा मस्तिष्क सीमित है, और इसलिए वहाँ स्वतंत्रता है ही नहीं।

तो हम यह पता लगाने जा रहे हैं कि क्या मस्तिष्क का कोई ऐसा हिस्सा है जो संस्कारबद्ध नहीं है। यह सब ध्यान ही है, यह पता लगाना। क्या व्यक्ति उस संस्कारबद्धता के प्रति सजग

हो सकता है जिसमें वह जी रहा है? क्या आप सजग हो सकते हैं अपनी संस्कारबद्धता के प्रति, एक ईसाई के रूप में, पूंजीवादी, समाजवादी, उदारपंथी के रूप में, कि आप फलां पर विश्वास करते हैं फलां पर नहीं?-यह सब हमारी संस्कारबद्धता का ही हिस्सा है। क्या मनुष्य उस संस्कारबद्धता के प्रति सजग हो सकता है? क्या आप अपनी चेतना के प्रति सजग हो सकते हैं?-किसी अवलोकनकर्ता की तरह नहीं, बल्कि इस प्रतीति के साथ कि आप ही वह चेतना हैं। और अगर आप सजग हैं, तो वह कौन है जो सजग है? क्या यह विचार है जो सजग है कि वह संस्कारबद्ध है? तब तो वह अभी भी वास्तविकता के क्षेत्र में ही है, जो कि संस्कारबद्ध है। या क्या एक ऐसा अवलोकन होता है, एक ऐसी सजगता, जिसमें खालिस, विशुद्ध अवलोकन हो रहा हो? क्या खालिस सुनने का एक कर्म, उसकी एक कला है?

थोड़ा सुनिए इसको। 'कला' शब्द का अर्थ होता है हर चीज़ को उसकी सही जगह पर रखना, वहाँ, जो उसकी जगह है। अब, क्या आप बिना किसी व्याख्या, बिना मूल्यांकन, बिना किसी पूर्वाग्रह के अवलोकन कर सकते हैं—केवल अवलोकन, खालिस देखना? और क्या आप सुन सकते हैं, जैसा कि इस समय आप कर रहे हैं, विचार की किसी भी हलचल के बगैर। यह तभी संभव है, यदि आप विचार को उसकी सही जगह पर रख सकें। और सीखने की कला का अर्थ है संचित न करना-क्योंकि तब यह जानकारी और विचार बन जाता है—बल्कि सीखने की गतिविधि, बिना किसी संचय के। तो, देखने की कला होती है, सुनने की कला होती है, सीखने की कला होती है—जिसका अभिप्राय है हर चीज़ को वहाँ रखना जो उसकी जगह है। और उसी में विशद व्यवस्था अंतर्निहित है।

अब हम पता लगाने जा रहे हैं कि क्या समय रुक जाता है। यही ध्यान है। जैसा कि हमने शुरू में ही कहा था, यह सब ध्यान के क्षेत्र के अंतर्गत ही है। ध्यान ऐसा कुछ नहीं है जो जीवन से अलग हो, दैनिक जीवन से अलग हो। किन्हीं शब्दों को, किसी मंत्र को दोहराना ध्यान नहीं है जो आजकल एक फैशन बन गया है और 'ट्रान्सेन्डेन्टल मेडीटेशन' के नाम से जाना जाता है, या कोई और ध्यान जिसका अभ्यास किया जा सकता हो। ध्यान तो ऐसा कुछ है, जो पूरी तरह से अचेतन हो, अनजाने ही हो। मुझे शुबहा है कि आप इसे देख पा रहे होंगे। यदि आप ध्यान का अभ्यास करते हैं, यानी किसी पद्धति का, किसी विधि का अनुसरण करते हैं, तब वह विचार की गतिविधि ही हुआ करती है, जिसका जुगाड़ कोई परिणाम हासिल करने के लिए किया गया है, और उस परिणाम को अतीत की किसी प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रक्षेपित किया जा रहा है, 'प्रोजेक्ट' किया जा रहा है, और इसलिए वह अब भी विचार के क्षेत्र के भीतर-भीतर ही है।

तो क्या इस मस्तिष्क में उत्परिवर्तन, 'म्यूटेशन' हो सकता है? बात यहीं आ जाती है। हमारा कहना है कि यह संभव है। तात्पर्य यह कि उत्परिवर्तन केवल तभी संभव है जब अवधान का, 'अटेन्शन' का एक बड़ा 'शॉक', भारी झटका लगे। अवधान में निहित है किसी भी नियंत्रण की गैरमौजूदगी। आपने कभी पूछा है कि क्या आप एक दफा भी नियंत्रण का

प्रयोग किए बिना इस संसार में जी सकते हैं?-अपनी इच्छाओं पर, अपनी क्षुधा-लिप्सा पर, अपनी इच्छाओं की परिपूर्ति पर और अन्यान्य चीज़ों पर कतई, श्वास भर भी नियंत्रण के बिना जीना क्या संभव है? नियंत्रण में निहित है, एक नियंत्रण करने वाला, नियंत्रक: और वह नियंत्रक सोचता है कि जिस पर वह नियंत्रण कर रहा है, वह उससे भिन्न है। किंतु जब आप करीब से, ध्यान से अवलोकन करते हैं, तो नियंत्रण करने वाला ही वह है जिसका नियंत्रण किया जा रहा है। तो नियंत्रण का स्थान क्या है? निग्रह के, दमन के अर्थ में, कुछ हासिल करने की खातिर नियंत्रण, खुद को बदलकर कुछ और बन जाने के उद्देश्य से नियंत्रण-यह सब विचार की ही माँग तो है। चूँकि विचार की प्रकृति ही विखंडनकारी है, वह अपने आप को नियंत्रक और नियंत्रित में विभाजित कर लेता है। और हमें बचपन से ही नियंत्रण करने के लिए, दबा देने के लिए, बरजने के लिए शिक्षित किया जाता है—हमारा अर्थ यह नहीं है कि आपकी जो मर्ज़ी हो वही करें; वह तो मुमकिन ही नहीं, सिरे से बेतुकी और बचकानी बात है। किंतु नियंत्रण के इस पूरे सवाल को समझना हो तो यह ज़रूरी है कि आप उस इच्छा की जाँच-पड़ताल करें जो इस विखंडन को, इस बिखराव को जन्म देती है: होने की इच्छा बनाम न होने की इच्छा। और यह पता लगाना ज़रूरी है कि क्या आप बिना कोई तुलना किए, अतएव बिना किसी आदर्श के, बिना किसी भविष्य के जी सकते हैं—तुलना करने में यह सब निहित है। जहाँ तुलना है, वहाँ नियंत्रण तो होना ही है। क्या आप बिना तुलना के, और इसलिए बिना किसी नियंत्रण के जी सकते हैं—समझ रहे हैं आप? क्या आपने कभी बिना नियंत्रण के, बिना तुलना के जीकर देखा है? क्योंकि तुलना और नियंत्रण को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। अंग्रेज़ी के 'रिस्पेक्ट' शब्द का मूल अर्थ होता है नज़र डालना। और जब हम अपने इर्द-गिर्द नज़र डालते हैं, तो हमें दिखता है कि सभी मनुष्यों में, चाहे वे कहीं भी रहते हों, एक असाधारण इच्छा होती है अपनी तुलना किसी व्यक्ति से, या किसी विचार से, या किसी शख्सियत से करने की जो कथित रूप से श्रेष्ठ है, और तुलना की इस प्रक्रिया के चलते वे नियंत्रण और दमन में पड़ जाते हैं। पर यदि आप इस समग्र गतिविधि को देख पाते हैं, तो नियंत्रण की आहट तक के बगैर जीना मुमकिन हो जाता है। इसके लिए बहुत अधिक आंतरिक अनुशासन की दरकार होती है। असल में अनुशासन का अभिप्राय ही सीखने से है, किसी सैनिक की तरह एक साँचे के मुताबिक अनुशासित किये जाने से नहीं। अंग्रेज़ी के 'डिसीप्लिन' शब्द के मायने हैं 'सीखना'। यह सीखना कि क्या एक भी चयन, तुलना या नियंत्रण के बगैर जीना संभव है। इसके बारे में सीखना है; इसे स्वीकार नहीं कर लेना है, इसे नकार नहीं देना है, बल्कि पता लगाना है कि जियें कैसे।

तब उसमें से एक ऐसे मस्तिष्क का प्रादुर्भाव होता है जो संस्कारबद्ध नहीं है। तब ध्यान के मायने हैं अधिसत्ता से स्वतंत्र होना, वास्तविकता के क्षेत्र में हर चीज़ को उसकी सही जगह पर रखना, और चेतना को अपनी सीमा का एहसास होना, अतएव, उस सीमा के अंतर्गत व्यवस्था का आगमन। जब व्यवस्था होती है, तो सदाचार होता है, बर्ताव में सदाचार।

वहाँ से हम इस प्रश्न पर आ सकते हैं कि क्या समय रुक सकता है। इसका अर्थ है, क्या यह

मन, खुद यह मस्तिष्क पूरी तरह से निश्चल, स्थिर हो सकता है?-नियंत्रण करके नहीं। यदि आप निश्चल होने के लिए विचार को नियंत्रित करें, तो यह अब भी विचार की ही गतिविधि है। क्या इस मस्तिष्क और इस मन का पूर्णरूपेण निश्चल होना संभव है, जो कि समय का अंत है? मनुष्य युगों-युगों से, सदैव मन में शांति, मौन लाने की कामना करता रहा है, जिसे उसने ध्यान, चिंतन अथवा अन्य नाम दिये हैं। क्या मन निश्चल हो सकता है?-जब वह बड़बड़ नहीं कर रहा हो, कोई कल्पना नहीं कर रहा हो, और उस निश्चलता का उसे ख्याल न हो, क्योंकि अगर आपको उस निश्चलता की मौजूदगी का ख्याल है, तो एक केंद्र सक्रिय है जो उस निश्चलता के बारे में सचेत है, और वह केंद्र समय का ही हिस्सा है, जिसे विचार ने जोड़ा-जमाया है; अतः आप अभी भी वास्तविकता के संसार में ही हैं, और इसलिए वास्तविकता के, समय के संसार में इसका अंत नहीं हुआ है।

मनुष्य ने हाथों द्वारा या मन के द्वारा उसकी रचना की है जो उसकी सोच के हिसाब से पावन है, गिरजाघरों में, मंदिरों में स्थापित समस्त प्रतिमाएँ मनुष्य ने ही रची हैं। वे सारी प्रतिमाएँ विचार की ही उपज हैं। और उस सब में पावन जैसा कुछ भी नहीं है। किंतु इस संपूर्ण मौन में से क्या कुछ ऐसा घटित होता है जो पावन है? हमने शुरुआत यहाँ से की थी कि धर्म विश्वास नहीं है, यह रीति-रिवाज़, सत्ता-प्रामाण्य, 'अथॉरिटी' नहीं है, अपितु धर्म है इस अनुसंधान हेतु अपनी समस्त ऊर्जा का एकत्रीकरण कि क्या कुछ ऐसा है, जो पावन है, पर विचार की उपज नहीं है। हममें वह ऊर्जा मौजूद होती है जब वास्तविकता के इस संसार में, जिसमें हम जी रहे हैं, संपूर्ण व्यवस्था आ जाए-अपने संबंधों में व्यवस्था, 'अथॉरिटी' से स्वतंत्रता, तुलना से, नियंत्रण से, माप-जोख से स्वतंत्रता। तब यह मन और यह मस्तिष्क सहज ही पूर्णतः निश्चल, मौन हो जाते हैं, बिना किसी ज़ोर-ज़बरदस्ती के। अगर कोई यह देख पाए कि कोई भी वस्तु, जिसे विचार ने निर्मित किया है, पावन नहीं है, कोई भी वस्तु-संसार के सारे गिरजाघरों में, सारे मंदिरों में, सारी मस्जिदों में सत्य कहीं नहीं है—तो क्या कुछ ऐसा विद्यमान है, जो पावन है?

भारत में, जब मंदिरों में केवल ब्राह्मण इत्यादि ही प्रवेश कर पाते थे और गाँधीजी कह रहे थे कि सभी लोग मंदिरों में जा सकते हैं—एक साल तक मैं वह सब देख रहा था-और लोगों ने मुझसे सवाल किया, "आप इस विषय में क्या कहते हैं?" मेरा जवाब था, ईश्वर मंदिरों में नहीं है, और इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि वहाँ कौन जा सकता है। और वह बात, निश्चित ही, उनको अस्वीकार्य थी। इसी तरह से मैं कह रहा हूँ, हम कह रहे हैं कि विचार द्वारा निर्मित कोई भी वस्तु पावन नहीं है। तो क्या कुछ ऐसा है भी, जो पावन है? जब तक मनुष्य प्राणी उस पावनता को नहीं पा लेते, उनके जीवन का वस्तुतः कोई अर्थ ही नहीं है, वह एक खाली सीपी के समान है। हो सकता है वे खूब चाक-चौबंद हों, अपेक्षाकृत स्वतंत्र हों, किंतु जब तक उनके जीवन में यह नहीं, जो पूर्णतः पावन है, विचार से अनछुआ, तब तक जीवन के कोई गहरे मायने हैं नहीं। क्या कुछ ऐसा है जो पावन है, या फिर सब कुछ जड़ पदार्थ है, सब कुछ विचार है, सब कुछ चलायमान है, सब अस्थायी है? क्या कुछ ऐसा है, जिसे विचार कभी

नहीं छू सकता, अतएव जो अदूषित है, समय से परे है, नित्य तथा पावन है? इस तक आ पहुँचने के लिए मन का हर प्रकार से, पूरी तरह से निश्चल, स्थिर होना ज़रूरी है, जिसका अर्थ है समय का समापन, समय का अंत; और इसमें समस्त पूर्वाग्रहों, अभिमतों, मूल्यांकनों से संपूर्ण मुक्ति का होना ज़रूरी है—समझ रहे हैं? केवल तभी आना हो पाता है इस असाधारणता तक, जो समयरहित है एवं करुणा का सारभूत है।

इसलिए ध्यान की महत्ता है, सार्थकता है। ध्यानस्थ मन की इस गुणवत्ता का होना ज़रूरी है, कभी-कभार नहीं, बल्कि दिन-भर। और यह, जो कि पावन है, हमारी ज़िंदगियों पर प्रभाव डालता है, न सिर्फ जागने की घड़ियों में, अपितु नींद के दौरान भी। और ध्यान की इस प्रक्रिया में तमाम किस्म की शक्तियाँ वजूद में आती हैं: कोई अतीन्द्रियद्रष्टा बन जाता है, शरीर असाधारण रूप से संवेदनक्षम हो जाता है। किंतु अब अतीन्द्रियदृष्टि, रोगमुक्ति-सामर्थ्य, विचार-अंतरण आदि हर तरह से महत्त्वहीन हो जाते हैं; समस्त गुह्य शक्तियाँ नितांत अप्रासंगिक बन जाती हैं, और जब आप इनके पीछे दौड़ते हैं, तो आप किसी ऐसी चीज़ के पीछे दौड़ रहे होते हैं, जो अंततोगत्वा आपको किसी मरीचिका की ओर, भ्रांति की ओर ले जाने वाली है। यह एक पहलू हुआ। फिर एक पहलू नींद का है। नींद का क्या महत्त्व है? क्या यह नींद की घड़ियों को सपना देखते हुए बिताना है? या, क्या यह मुमकिन है कि सपने आएँ ही नहीं? सपने क्या हैं, हम सपना क्यों देखते हैं, और क्या किसी मन के लिए यह मुमकिन है कि वह सपना देखे ही नहीं, ताकि नींद के दौरान, जब मन सर्वथा विश्राम में हो, अंदर एक पूर्णतः भिन्न प्रकार की ऊर्जा का प्रादुर्भाव हो सके?

उस अवधि में, जब हम जागे हुए हैं, अगर हम पूरी तरह से ध्यान दे रहे हैं अपने विचारों पर, अपने क्रियाकलाप पर, अपने बर्ताव पर, उस सब के प्रति हम पूरी तौर पर सजग हैं, तब क्या सपनों की कोई ज़रूरत होगी? या फिर, क्या सपने हमारे दैनिक जीवन का ही सातत्य, उसी का जारी रहना है, तस्वीरों के, छवियों के, घटनाओं के रूप में-यह प्रतिदिन की हमारी चेतन या अचेतन हलचलों की ही एक निरंतरता है? तो जब यह मन दिन के दौरान पूर्ण रूप से सजग रहता है, तब आप देखेंगे कि सपने महत्त्वहीन हो जाते हैं, और उस महत्त्वहीनता के चलते उनकी कोई अर्थवत्ता नहीं रह जाती, और इसलिए सपने आते ही नहीं। बस होती है सिर्फ पूरी नींद, जिसका अर्थ है कि मन को पूरा विश्राम मिलता है: वह स्वयं को फिर से नया कर पाता है। इसके साथ प्रयोग कीजिए, इसे आज़मा कर देखिए। जो यह वक्ता कह रहा है, यदि उसे आप स्वीकार कर लेते हैं, तो यह बेमानी होगा; लेकिन तब नहीं अगर आप तहकीकात करें, पता लगाएँ कि यदि दिन के दौरान आप एकदम जागे हुए रहते हैं, सतर्क सावधान, बिना किसी चयन के सजग-हमने इस पर चर्चा की थी कि सजग होना क्या होता है—और उस अवस्था में जागते रहने के उपरांत जब आपको नींद आती है, तो मन असाधारण रूप से तरो-ताज़ा, युवा हो जाता है। और यौवन निर्णयशक्ति एवं कर्म का सार है। अगर वह कर्म सिर्फ अपने घेरे में ही केन्द्रित है, 'मैं' के इस केंद्र के इर्द-गिर्द ही संचालित है, तब वह कर्म उपद्रव, उलझन-भ्रम इत्यादि का कारण बनता है। किंतु जब आपको एहसास होता है

कि जीवन की यह समग्र गतिशीलता एक ही है, अविभाजित है, और आप उसके प्रति सजग होते हैं, तब मन स्वयं को फिर-फिर युवा कर लेता है, और उसमें अपार ऊर्जा विद्यमान होती है। यह सब ध्यान का ही भाग है।

---

* यह वार्ता ब्रॉकवुड पार्क में, सितंबर 1975 में दी गयी थी, जिस समय भारत में एमरजेंसी लगी हुई थी।

भाग 3

कुछ प्रश्नोत्तर

(सानेन, 1975 व 1976 की वार्ताओं संवादों से)

10

सही आजीविका

प्रश्नकर्ता: क्या व्यापार में अभिप्रेरणा का होना ज़रूरी है? जीविका के उपार्जन के लिए सही अभिप्रेरणा क्या है?

कृष्णमूर्ति: आप क्या सोचते हैं, सही आजीविका क्या है?-वह नहीं जो सबसे ज़्यादा सुविधाजनक हो, सबसे ज़्यादा मुनाफा देती हो, मज़ेदार हो, या फायदेमंद हो; बल्कि सही आजीविका क्या है? अब, आप यह कैसे पता लगाएँगे कि सही क्या है? 'सही' शब्द का अर्थ है अचूक, सम्यक्। अगर आप फायदे या मज़े की खातिर कुछ करते हैं, तो वह सम्यक् नहीं हो सकता। यह एक पेचीदा मसला है। वह सब कुछ जिसे विचार ने रचा-गढ़ा है, वह वास्तविकता है। इस तंबू को विचार द्वारा रचा गया है, यह एक वास्तविकता है। यह वृक्ष विचार द्वारा नहीं रचा गया है, किंतु यह एक वास्तविकता है। भ्रांतियाँ वास्तविकता हैं—जो भ्रांतियाँ व्यक्ति को होती हैं, कल्पना, वह सब वास्तविकता है। और उन भ्रांतियों के कारण जो असंतुलित कर्म होता है, वह भी वास्तविकता है। तो जब आप यह प्रश्न पूछते हैं, "सही आजीविका क्या है", आपको यह समझना होगा कि वास्तविकता क्या है। वास्तविकता सत्य नहीं है।

अब इस वास्तविकता के अंतर्गत त्रुटिरहित कर्म क्या होता है? और कैसे यह खोज निकालेंगे आप कि इस वास्तविकता में सही क्या है—और यह खोज आपको खुद करनी है, यह नहीं कि किसी ने आपको बता दिया। तो हमें यह पता लगाना होगा कि वास्तविकता के इस संसार में सही, अचूक, सम्यक् कर्म क्या है, या सही आजीविका क्या है, और वास्तविकता में भ्रांति सम्मिलित है। भागना नहीं है इससे, दूर नहीं हो जाना है; विश्वास एक भ्रांति है, और विश्वास से उपजे क्रियाकलाप असंतुलित होते हैं, राष्ट्रवाद और शेष सब वास्तविकता का ही एक और रूप है, लेकिन है वह एक भ्रांति ही। तो यह सब वास्तविकता है, इस बात को ध्यान में रखते हुए, उस क्षेत्र में सही कर्म क्या है?

आपको यह कौन बताने वाला है? ज़ाहिर है, कोई भी नहीं। किंतु जब आप वास्तविकता को

बिना किसी भ्रांति के देख पाते हैं, तो उस वास्तविकता का 'परसेप्शन', उसका प्रत्यक्ष बोध ही आपकी प्रज्ञा है, है कि नहीं? और इसमें वास्तविकता व भ्रम का सम्मिश्रण नहीं होता। तो जब वास्तविकता का अवलोकन होता है, वृक्ष की वास्तविकता का, इस तंबू की वास्तविकता का, उस वास्तविकता का जिसे विचार ने गढ़ा है, 'दर्शनों', भ्रांतियों समेत, जब आप उस सारी वास्तविकता को देख पाते हैं, तो उसका वह प्रत्यक्ष बोध ही आपकी प्रज्ञा है—ठीक? तो आपकी प्रज्ञा यह बताती है कि आप क्या करें। आपको यह बात स्पष्ट हो रही है? जो है, और जो नहीं है, उसे स्पष्ट रूप से देख लेना ही प्रज्ञा है—'जो है' उसका प्रत्यक्ष बोध, और 'जो है' उसकी वास्तविकता को देख पाना, जिसका अर्थ हुआ कि उसमें हमारी कोई मानसिक संलिप्तता नहीं है, किसी तरह की मनोगत अपेक्षाएँ नहीं हैं, जो सब भ्रांति के ही रूप हैं। यह सब देखना ही प्रज्ञा है; फिर जहाँ भी आप हों, वह प्रज्ञा काम करेगी। अतः वह आपको बताएगी कि आप क्या करें।

तो फिर सत्य क्या है? सत्य और वास्तविकता के बीच की कड़ी क्या है? यह प्रज्ञा, यह 'इन्टेलीजैन्स' ही वह कड़ी है। प्रज्ञा, जो वास्तविकता को उसकी सफलता में देखती है, और इसलिए सत्य को उससे अनछुआ रहने देती है और तब सत्य प्रज्ञा के माध्यम से वास्तविकता पर काम करता है।

11

संकल्प

प्रश्नकर्ता: मैं जानना चाहता हूँ कि क्या संकल्पशक्ति के प्रयत्न की जीवन में कोई जगह है?

कृष्णमूर्ति: क्या संकल्पशक्ति की जीवन में कोई जगह है? जीवन से हमारा तात्पर्य क्या है?-रोज़ सुबह दफ्तर जाना, कोई व्यवसाय, कोई काम-धंधा, किसी सीढ़ी पर-धार्मिक व सांसारिक दोनों दृष्टियों से-अंतहीन चढ़ना, हमारे भय, हमारी यंत्रणाएँ, वे चीज़ें जिन्हें हमने सँजो रखा है, यादों में बसा रखा है, यही सभी तो जीवन है, है न? यह सब जीवन है, वह जो चेतन स्तर पर है तथा वह भी जो छुपा हुआ है। चेतन वह, जिसके बारे में हम, कमोबेश, जानते हैं; और फिर वह सारा कुछ, जो भीतर कहीं गहरे में छुपा है, हमारे मन की उस गुफा में, मन की गहनतम खाइयों में। यह सब जीवन है: भ्रांति और वास्तविकता, सर्वोच्च तत्त्व तथा 'जो है' वह, मरने का भय, जीने का भय, संबंध का भय-यह सभी कुछ। संकल्पशक्ति की, 'विल' की इसमें क्या जगह है? यही प्रश्न है।

मेरा कहना है कि कोई जगह नहीं है। जो मैं कह रहा हूँ, उसे मान मत बैठिए; मैं कोई आपका प्रमाणपुरुष नहीं हूँ, आपका गुरु नहीं हूँ। हमारी चेतना की समस्त अंतर्वस्तु, इसमें जो कुछ भी है, वही तो चेतना है, और इसे निर्मित किया है विचार ने, जो कि इच्छा और छवि है। और इसी ने तो दुनिया में इस कदर तबाही मचा रखी है। तो क्या इस दुनिया में संकल्पशक्ति की इस क्रिया के बगैर रहने-जीने का कोई ढंग है? मौजूदा प्रश्न यह है।

मैं इससे अवगत हूँ, एक मनुष्य के नाते मुझे उस सब का पूरी तरह एहसास है जो कुछ मेरी चेतना के भीतर चल रहा है: ये उलझनें, यह अव्यवस्था, यह अस्तव्यस्तता, यह संग्राम, और सत्ता, पद-प्रतिष्ठा, सलामती, सुरक्षा, वर्चस्व की यह तलाश, यह सब; और मैं यह देखता हूँ कि विचार ने ही इस सब की रचना की है। विचार तथा इच्छा ने, और छवियों के इस गुणनफल ने। और मैं कहता हूँ, "संकल्प की इसमें क्या जगह है?" यह संकल्प ही तो है जिसने यह सब रचा है। क्या मैं इस सब के मध्य, संकल्पशक्ति के बगैर जी सकता हूँ? जैविक तौर पर, शारीरिक तौर पर, मुझे एक खास तरह की ऊर्जा को तो प्रयोग में लाना ही

होगा, कोई भाषा सीखने के लिए, इस काम या उस काम को करने के लिए। एक किस्म के प्रेरकबल, 'ड्राइव' का होना तो ज़रूरी है। मैं यह सब देख पाता हूँ। और मुझे यह एहसास होता है—विवरण के रूप में कोई शाब्दिक एहसास नहीं, बल्कि इसकी खाँटी सच्चाई, जैसे किसी को अपने शरीर में पीड़ा का एहसास होता है—ठीक ऐसे ही मुझे एहसास होता है कि यह सब इच्छा और संकल्पशक्ति के रूप में विचार की ही उपज है। क्या मैं, एक मनुष्य के तौर पर, इस सब को देख सकता हूँ, और बिना संकल्प का आसरा लिए, इसे रूपांतरित कर सकता हूँ, पूरी तरह से बदल सकता हूँ?

अब महत्त्वपूर्ण यह हो जाता है कि किस प्रकार के अवलोकन की ज़रूरत है। ज़रूरत है असल में 'जो है', उसे देखने की खातिर अवलोकन की। क्या यह मन वस्तुतः 'जो है' उसे देखने में सक्षम है? या यह हमेशा इसका तर्जुमा "जो होना चाहिए", "जो नहीं होना चाहिए", "मुझे यह दबा लेना चाहिए", "इसे मुझे नहीं दबाना चाहिए" और इस तरह के तमाम जुमलों में कर दिया करता है? अवलोकन के लिए स्वतंत्रता का होना ज़रूरी है, अन्यथा मैं देख ही नहीं सकता। यदि आपके खिलाफ मेरा कोई पूर्वाग्रह है, या मैं आपको पसंद करता हूँ, तो मैं आपको देख नहीं पाता। इस वजह से, अवलोकन करने के लिए स्वतंत्रता बेहद ज़रूरी होती है—पूर्वाग्रह से, पूर्वसूचना से स्वतंत्रता, जो हम सीख चुके हैं उससे स्वतंत्रता, बिना किसी धारणा के देख पाने की क्षमता। आप समझ रहे हैं: किसी भी धारणा के बिना, 'आइडिया' के बिना देखना। जैसा कि हमने उस दिन कहा था, 'आइडिया' शब्द ग्रीक भाषा से आया है; वहाँ इस शब्द का मूल अर्थ है अवलोकन करना, देखना। जब हम देखने से इनकार कर देते हैं, हम उसका कोई अमूर्तन, 'एब्स्ट्रेक्शन' बना लेते हैं, और उसे फिर एक धारणा का रूप दे देते हैं।

अवलोकन के लिए स्वतंत्रता तो चाहिए ही चाहिए, और उस स्वतंत्रता में संकल्प की कोई दरकार नहीं है; बस स्वतंत्रता हो देखने हेतु। जिसका मतलब हुआ, इसे अलग तरह से कहें तो, अगर कोई व्यक्ति एक वक्तव्य दे रहा हो, क्या आप उसे इस अमूर्त बना लेने की प्रक्रिया के बिना सुन सकते हैं? आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं? यह वक्ता कोई वक्तव्य देता है, जैसे कि "दुःख का अंत ही प्रज्ञा की शुरुआत है"। क्या आप इस वक्तव्य को, बिना इसका अमूर्तन किए सुन सकते हैं—अमूर्तन यानी: "क्या ऐसा मुमकिन है?", "हमें इससे क्या मिलेगा?", "हम इसे कैसे करें?", ये सब अमूर्तन हैं—और सुनना असल में हो नहीं पा रहा है। तो क्या आप इस वक्तव्य को अपनी समस्त इंद्रियों सहित सुन सकते हैं, जिसका अर्थ है अपने पूरे अवधान, पूरी 'अटेन्शन' के साथ? तब आप इसका सत्य देख लेते हैं। और इस सत्य का प्रत्यक्ष बोध, इसे देख पाना ही इस कोलाहल के मध्य घटित होने वाला कर्म है।

12

भावनाएँ और विचार

प्रश्नकर्ता: क्या भावनाओं की जड़ विचार में है?
कृष्णमूर्ति: भावनाएँ क्या हैं? भावनाएँ संवेदन हैं, सनसनी हैं, हैं न? आप एक बढ़िया कार को, या किसी सुंदर मकान को, किसी सुंदर स्त्री या पुरुष को देखते हैं, और संवेदन का वह एहसास इन इंद्रियों को जगाता है। तब क्या होता है? संपर्क, तत्पश्चात इच्छा। अब विचार का प्रवेश होता है। तो क्या ऐसा हो सकता है कि आप वहीं रुक जाएँ, और विचार को बीच में आकर चीज़ें अपने हाथ में न लेने दें? मैं एक सुंदर मकान देखता हूँ, सही अनुपातों में निर्मित, प्यारा-सा लॉन है बाहर, उम्दा बगीचा है: समस्त इंद्रियों की ओर से प्रतिक्रिया घटित होती है, क्योंकि कुछ बहुत सुंदर समक्ष है—खूब सार-सँभाल से रखा गया, सुव्यवस्थित, साफ-सुथरा वह मकान है। आप उसी बिंदु पर क्यों नहीं रुक सकते, ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि विचार को बीच में न आने दें, जो कहने लगता है, "यह तो मुझे चाहिए ही" वगैरह, वगैरह? तब आप देखेंगे कि भावनाएँ, या संवेदन स्वाभाविक, स्वस्थ, सामान्य घटनाएँ हैं। लेकिन जब विचार कमान अपने हाथ में ले लेता है, तब तमाम खुराफ़ात शुरू हो जाती है।

अत: हमें अपने आप यह पता लगाना है कि क्या हमारे लिए यह संभव है कि किसी चीज़ को अपने समस्त इंद्रियबोध के साथ देखें, बात वहीं समाप्त कर दें व उसमें और आगे न जाएँ- करके देखिए इसे! इसके लिए सजगता के एक असाधारण एहसास की दरकार होती है जिसमें किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं किया जा रहा होता; कोई नियंत्रण नहीं, अतएव कोई द्वंद्व नहीं। 'जो है' उसे बस पूरी तरह से देखना, उसका अवलोकन, और समग्र इंद्रियबोध से आती प्रतिक्रिया, और बात वहीं खत्म कर देना। इसमें अतीव सौंदर्य है। क्योंकि आखिरकार, सौंदर्य और क्या है?

13

सौंदर्य

क्या सौंदर्य वास्तविकता के संसार का हिस्सा है? या, इसे ऐसे कहें कि यह समय के रूप में, विचार की गतिविधि के अंतर्गत नहीं आता? कृपया इसे ध्यान से समझिए, क्योंकि हम साथ-साथ तहकीकात कर रहे हैं। मैं कोई नियम स्थापित नहीं कर रहा हूँ। मैं तो बस स्वयं से यह पूछ रहा हूँ: क्या सौंदर्य, समय के रूप में विचार की गतिविधि में अवस्थित है?-मतलब कि वास्तविकता के क्षेत्र के भीतर। संसार में सुंदर-सुंदर चित्र हैं, मूर्तियाँ हैं, शिल्पकृतियाँ हैं, शानदार कैथीड्रल हैं, अद्‌भुत मंदिर हैं। अगर कभी आप भारत गए हों, तो आपने देखा होगा, वहाँ के कुछ प्राचीन मंदिर सच में एकदम असाधारण हैं: उनमें समय का स्पर्श नहीं है, मनुष्य नाम की सत्ता की उपस्थिति नहीं रही उनके निर्माण में। और मिस्त्रवासियों द्वारा, यूनानियों द्वारा सृजित वे शानदार प्राचीन शिल्पकृतियाँ, प्रतिमाएँ, तब से लेकर आधुनिक कलाकृतियों पर्यंत-तो क्या यह अभिव्यक्ति और सृजन है? क्या सृजन को अभिव्यक्ति की दरकार है? मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि ऐसा है, या नहीं है, मैं तो बस पूछ रहा हूँ, खोज कर रहा हूँ। क्या सौंदर्य का-जो कि बाह्य अभिव्यक्ति तथा असाधारण प्रफुल्लता के आंतरिक एहसास की अनुभूति, दोनों है—आविर्भाव तभी होता है, जब 'मैं' का, उसकी तमाम गतिविधि समेत, पूरी तरह से अंत हो जाता है?

यह पड़ताल करने के लिए कि सौंदर्य क्या है, हमें इस प्रश्न में जाना होगा कि सृजन क्या है? क्या होता है वह मन जो सृजनशील है? जो मन विखंडित है, टुकड़ों में बँटा है, चाहे जितना वह सक्षम हो, चाहे जो उसमें गुण हों, प्रतिभा हो, क्या वह सृजनशील, 'क्रिएटिव' हो सकता है? यदि मैं एक विखंडित जीवन जी रहा हूँ, अपनी लालसाओं, अपने स्वार्थ, अपनी आत्मकेंद्रित महत्त्वाकांक्षाओं, चाहतों के पीछे भाग रहा हूँ, अपनी पीड़ा, अपने संघर्ष में उलझा हूँ—तो क्या ऐसा मन (मैं पूछ रहा हूँ) सृजनशील हो सकता है?-भले ही वह अद्भुत संगीत की, अद्भुत साहित्य की, वास्तुशिल्प की, काव्य की रचना क्यों न करता रहा हो; अंग्रेज़ी व अन्य भाषाओं के साहित्य आपूरित हैं इससे। जो मन समग्र नहीं है, क्या वह सृजनशील हो सकता है? या फिर, सृजन तभी संभव है जब संपूर्ण समग्रता हो, समूचापन

हो, अतएव कोई विखंडन हो ही नहीं? जो मन विखंडित है, बँटा-बिखरा है, वह एक सुंदर मन नहीं है, और इसीलिए वह सृजनशील भी नहीं है।

14

'स्वार्थपरता' का प्रवाह

यह तो साफ दिखाई देता है कि 'मैं' को विचार ने ही निर्मित किया है, 'मैं', जिसने अपना स्वतंत्र वजूद बना लिया है, 'मैं', जिसने ज्ञान अर्जित किया है, 'मैं', जो कि अवलोकनकर्ता है, 'मैं', जो अतीत है, जो वर्तमान में से होकर गुज़रता है और भविष्य के रूप में उसमें फेरबदल करता जाता है। यह अब भी विचार द्वारा गढ़ा गया 'मैं' ही है, और इस 'मैं' ने विचार से एक स्वाधीन सत्ता बना ली है। इस 'मैं' का एक नाम है, एक रूप है। 'अ' या 'ब' या 'जॉन' नाम का इसका एक लेबल है। यह उस शरीर के साथ, उस चेहरे के साथ तादात्म्य कर लेता है; इस 'मैं' का उस नाम और उस रूप से-जो कि यह संरचना है—तथा उस आदर्श से जिसका यह अनुसरण करना चाहता है, तादात्म्य हो जाता है, इस 'मैं' की पहचान जुड़ जाती है उस सब से। इस 'मैं' को, 'मैं' के किसी और रूप में-जिसका कोई और नाम हो-बदलने की इच्छा से भी इसका तादात्म्य होता है। यह 'मैं' समय की तथा विचार की ही उपज है। यह 'मैं' यह शब्द ही है: शब्द हटा दीजिए, फिर यह 'मैं' है ही क्या?

और यह 'मैं' ही है जो दुःख भोगता है: यह 'मैं', आपकी मानिंद, दुःख भोगता है। इस दुःखभोग में जो 'मैं' है, वही आप हैं। अपनी घनी दुश्चिंता में जब यह 'मैं' डूबा है, तो वह घनी दुश्चिंता आपकी है। इसलिए आप और मैं समान हैं, वही हैं; यही सारवस्तु है। हालाँकि आप कद में लंबे या छोटे हो सकते हैं, आपका स्वभाव भिन्न हो सकता है, चरित्र भिन्न हो सकता है, आप अधिक चतुर हो सकते हैं, यह सब तो संस्कृति का परिधिगत, सतही क्षेत्र है; लेकिन भीतर गहराई में, मूलभूत रूप से हम वही हैं। और वह 'मैं' गति कर रहा है लोभ के प्रवाह में, स्वार्थपरता के प्रवाह में, भय, दुश्चिंता और उस तरह की तमाम चीज़ों के प्रवाह में, उसी तरह, जैसे आप उस प्रवाह में हैं। जो मैं कह रहा हूँ उसको मान मत लीजिए-उसकी सच्चाई को देखिए। अर्थात, आप स्वार्थी हैं और दूसरा भी स्वार्थी है; आप डरे हुए हैं और दूसरा भी डरा हुआ है; जैसे आपके जीवन में व्यथा है, दुःख-दर्द है, आँसू हैं, लोभ है, ईर्ष्या है, समस्त मनुष्य प्राणियों का भी वही साँझा भाग है। यही वह प्रवाह है जिसमें हम जी रहे हैं, इसी प्रवाह में हम फँसे हुए हैं, हम सभी। हम इसी प्रवाह की गिरफ्त में हैं जब हम जी रहे हैं;

कृपया गौर कीजिए कि हमारा इस प्रवाह की गिरफ्त में होना जीवन के ही कर्म की अभिव्यक्ति है। और यह प्रवाह है 'स्वार्थपरता'-इस बात को इस तरह से रखना ज़्यादा ठीक रहेगा; और इसी प्रवाह में हम जी रहे हैं, स्वार्थपरता के प्रवाह में, इस अभिव्यक्ति में 'मैं' के वे सारे विवरण शामिल हैं जो मैंने अभी-अभी दिये हैं। और जब हम मरते हैं, तो शरीर मर जाता है, किंतु स्वार्थ का यह प्रवाह जारी रहता है। ज़रा इसे देखिए, इस पर चिंतन कीजिए।

फर्ज़ कीजिए मैंने एक बहुत ही स्वार्थी जीवन जिया है, आत्मकेन्द्रित गतिविधियों में रत, अपनी इच्छाओं के साथ, अपनी इच्छाओं को दिये गये महत्त्व के साथ, मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ, लोभ, ईर्ष्या, सम्पत्ति का संग्रह, ज्ञान का संग्रह, तमाम किस्म की वस्तुओं का संग्रह जिन्हें मैंने बटोर रखा है—इन्हीं सब को मैंने 'स्वार्थपरता' का नाम दिया है। और इन्हीं सब में मैं जिया करता हूँ, यही वह 'मैं' है, और यही आप भी हैं। हमारे संबंधों में भी वही बात है। तो जब हम जी रहे हैं, हम साथ-साथ इसी स्वार्थपरता के प्रवाह में बह रहे हैं। यह एक तथ्य है, यह कोई मेरी राय, मेरा निष्कर्ष नहीं है; यदि आप अवलोकन करें तो यह आपको नज़र आ जाएगा, चाहे आप अमेरिका जाएँ या भारत, या समूचे यूरोप में, माहौल वगैरह के दबाव से थोड़ा-बहुत फेरबदल हो सकता है, लेकिन बुनियादी तौर पर हलचल वही है। और जब शरीर मरता है, तो वह हलचल जारी रहती है...वह प्रवाह समय है। वह विचार की हलचल है, गति है, जिसने दुःख को निर्मित किया है, जिसने इस 'मैं' को निर्मित किया है, और यह 'मैं' अब विचार की उस गति से स्वाधीन एक भिन्न सत्ता होने का दावा करता है, और इस तरह स्वयं को 'आप' से विभाजित, अलग कर लेता है; किंतु यह 'मैं' जब दुःख भोग रहा होता है, तो वही होता है जो कि आप हैं। यह 'मैं' विचार की कल्पित संरचना ही है। अपने आप में इसकी कोई हकीकत नहीं है। यह वही है जो विचार ने इसे बनाया है, क्योंकि विचार को सुरक्षा चाहिए, सुनिश्चितता चाहिए, इसलिए विचार ने इस 'मैं' में अपनी सारी सुनिश्चितता का, असंशय का निवेश कर दिया है। और इसी में दुःख की उपस्थिति है। हम स्वार्थपरता के इस गतिप्रवाह में हैं, जब हम जी रहे हैं तब भी वह प्रवाह हमें बहाए लिए जा रहा है, और जब हम मरते हैं, उस प्रवाह का अस्तित्व बना रहता है।

क्या इस प्रवाह के लिए समाप्त हो जाना संभव है? क्या स्वार्थपरता का, इसकी समस्त साजसज्जा सहित, इसकी सभी सूक्ष्मताओं सहित पूरी तरह से अंत हो सकता है? और यह अंत ही समय का अंत है। अतएव, इस अंत के उपरांत एक सर्वथा भिन्न आयाम अस्तित्व में आता है: स्वार्थपरता की नितांत अनुपस्थिति।

जब दुःख घटित हो रहा है, तब क्या किसी 'आप' और 'मैं' का वजूद होता है? या सिर्फ दुःख का ही वजूद होता है? उस दुःख के दरम्यान मैं इस 'मैं' के साथ अपना तादात्म्य कर लेता हूँ, जो विचार की प्रक्रिया है। लेकिन असल तथ्य यह है कि आप दुःख से गुज़र रहे हैं और मैं दुःख से गुज़र रहा हूँ; ऐसा नहीं कि 'मैं' आपसे स्वतंत्र किसी सत्ता के तौर पर दुःख से गुज़र रहा हूँ। तो सिर्फ दुःख मौजूद है...सिर्फ दुःख का तत्त्व मौजूद है। जब इसका आपको

बोध होता है, एहसास होता है, तो क्या आपको मालूम है कि यह करता क्या है? उस निर्वैयक्तिक दु:ख के घटित होने पर, जिसमें आपसे विलग किसी 'मैं' के तौर पर कोई तादात्म्य नहीं किया गया है, जब वह दु:ख घटित होता है, तो उसमें से करुणा के एक अद्भुत भाव का आगमन होता है। दु:खभोग के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'सफरिंग' की व्युत्पत्ति जिस शब्द से हुई है, वह है 'पैशन'-आवेग, तड़प।

तो मेरे समक्ष समस्या यह होती है: एक मनुष्य के नाते जीवन जीते हुए, यह जानते हुए कि इस प्रवाह में स्वार्थपरता के तौर पर मेरा अस्तित्व है, क्या यह प्रवाह, क्या समय का यह संचरण, पूरी तरह से खत्म हो सकता है? दोनों स्तरों पर, चेतन तल पर, और साथ ही अचेतन तल पर भी? इस सारे वर्णन के उपरांत, क्या आप मेरा यह प्रश्न समझ पा रहे हैं? अब, आप कैसे पता लगाएँगे, कि क्या आप, जो स्वार्थपरता के उस प्रवाह में फँसे हुए हैं, उससे पूरी तरह बाहर निकल सकते हैं?-जो कि समय का अंत है। यदि यह बाहर निकलना हो पाता है, तो मृत्यु विचार की गतिविधि के रूप में समय का अंत है। क्या आप ऐसा कर सकते हैं, इस संसार में जीते-रहते हुए, इसकी तमाम पाशविकता के बीच?-यह संसार, जिसे मनुष्य ने ही बनाया है, जिसे विचार ने बनाया है, ये निरंकुश सत्ताएँ, सर्वाधिकारवादी प्रभुत्व, मनुष्यों के मन की बरबादी, इस पृथ्वी की, इन जीव-जंतुओं की बरबादी, मनुष्य जो भी छूता है, बरबाद कर देता है, अपनी पत्नी को, या पति को। तो क्या आप इस संसार में पूरी तरह से समय के बिना जी सकते हैं?-जिसका अर्थ है कि अब आप स्वार्थपरता की उस धारा के प्रवाह में नहीं हैं।

देखिए, इसमें और बहुत सारी चीज़ें शामिल हैं; क्योंकि एक विराट रहस्य का अस्तित्व है तो सही। विचार द्वारा आविष्कृत कोई वस्तु नहीं, उसमें कुछ भी रहस्यमय नहीं है। गुह्यविद्या, 'ऑकल्ट' रहस्यमय नहीं है, जिसके पीछे आजकल सब पड़े हैं, उसका एक फैशन बन गया है। ड्रग्स लेने से, नशा करने से जो अनुभव होते हैं, वे रहस्यमय नहीं हैं। मृत्यु नामक यह घटना, और उससे बाहर निकल पाने की यह संभावना, यहाँ उस रहस्यमयता की उपस्थिति है। तात्पर्य यह है कि जब तक कोई वास्तविकता के संसार में जी रहा है, जैसा कि हम कर रहे हैं, तो क्या वास्तविकता के उस संसार में दु:ख का अंत हो पाएगा? इसके बारे में सोचिए। इस पर गौर कीजिए। हाँ या ना मत करिए। यदि वास्तविकता के संसार में दु:ख का अंत-जिससे व्यवस्था का जन्म होता है—नहीं होता है, यदि वास्तविकता के इस संसार में स्वार्थपरता का अंत नहीं होता है—यह स्वार्थपरता ही है जो वास्तविकता के संसार में अव्यवस्था लाती है—यदि उसका अंत नहीं होता है, तो समय का अंत करने की पूरी सार्थकता को आपने समझा नहीं है, इसे पूरी तरह से ग्रहण नहीं किया है। इसलिए आपको वास्तविकता के इस संसार में व्यवस्था लानी होगी, संबंधों के संसार में, कर्म, तर्कसंगत एवं असंगत सोच, भय तथा सुख के इस संसार में व्यवस्था लानी होगी। तो क्या कोई, वास्तविकता के इस संसार में, जिसमें हम जी रहे हैं, जीते-जी स्वार्थपरता का अंत कर सकता है? पर यह समझ लीजिए कि स्वार्थपरता का अंत करना एक खासा जटिल मसला

है, यह बस इतना भर नहीं है, “मैं खुद के बारे में नहीं सोचा करूँगा”... वास्तविकता के इस संसार में यह स्वार्थपरता अराजकता, अस्तव्यस्तता पैदा कर रही है। पर आप ही यह संसार हैं, और यह संसार है: आप। यदि आप गहरे में बदलते हैं, तो मनुष्य की समग्र चेतना को आप प्रभावित कर रहे होते हैं।

15

एकत्व लाने वाला घटक

ध्यान में एकत्व लाने वाला, एक करने वाला घटक कौन-सा है? क्योंकि वह सर्वाधिक आवश्यक एवं अविलंब कर लेने योग्य कामों में से एक है। राजनेता यह एकता नहीं लाने वाले हैं, चाहे जितनी वे इसके बारे में बातें बना लें। हज़ारों साल तो उन्होंने सिर्फ एक-दूसरे से मुलाकात में लगा दिये। तो वह घटक, वह कारक क्या है? हम एक पूर्णतः भिन्न प्रकार की ऊर्जा के विषय में बात कर रहे हैं, जो विचार की हलचल नहीं है जिसकी कि अपनी एक ऊर्जा हुआ करती है; और क्या वह ऊर्जा, जो कि विचार की ऊर्जा नहीं है, इस एकत्व को लाएगी? ईश्वर के वास्ते, इस पर ज़रा गौर कीजिए, यह समस्या आपकी है, है कि नहीं? आपके और आपकी पत्नी या पति के बीच एकत्व, आपके और अन्य के बीच एकत्व। देखिए, इस एकत्व को लाने की हमने कोशिश तो की है; विचार एकत्व की ज़रूरत को देख पाता है और इसलिए उसने एक केंद्र को रच लिया है। जिस प्रकार सूर्य इस विश्व का केंद्र है, अपने उस प्रकाश में सबको समेटे हुए है, उसी प्रकार विचार द्वारा रचित यह केंद्र मनुष्यता को एक साथ लाने की आस लगाए है। बड़े-बड़े विजेताओं, योद्धाओं ने रक्तपात के ज़रिये ऐसा करने की कोशिश की है। यह कोशिश धर्मों ने भी की है, पर धर्मों में निहित क्रूरताओं, धर्मयुद्धों, धर्मों के नाम पर दी गयी यातनाओं के चलते ये तो और अधिक विभाजन ही लाते रहे हैं। विज्ञान ने भी एकत्व के बारे में तहकीकात की है। और चूँकि विज्ञान जानकारी का समुच्चय है, संग्रह है, और जानकारी की आवाजाही विचार है, तथा खंडित, आधा-अधूरा होने के कारण यह एकत्व नहीं ला सकता।

क्या एक ऐसी ऊर्जा है, जो इस एकत्व को, मनुष्यता के एकीकरण को सच करेगी? हम कह रहे हैं, यह ऊर्जा ध्यान में घटित होती है, क्योंकि ध्यान में कोई केंद्र नहीं होता। वह केंद्र विचार ने रच रखा है; किंतु अब कुछ और ही होता है, सर्वथा भिन्न, जो है: करुणा। यही मनुष्यता को एक करने वाला घटक है। करुणाशील होना; करुणाशील बनना नहीं, वह तो एक और छल हो जाएगा— अपितु करुणाशील होना। यह केवल तभी हो पाता है, जब कोई केंद्र हो ही नहीं, वह केंद्र जो विचार द्वारा रचित है—विचार, जिसे उम्मीद है कि केंद्र की

रचना करने पर वह एकत्व लागू कर सकेगा, किसी खंडित वजूद वाली सरकार की तरह, किसी तानाशाह, स्वेच्छाचारी शासन की तरह, ये सारे केंद्र हैं, जिन्हें एकता को निर्मित कर लेने की आस-उम्मीद है। किंतु ये सारे इसमें असफल रहे हैं, और आगे भी वे निरपवाद रूप से असफल ही होने वाले हैं। तो केवल एक ही कारक है, और वह है विपुल करुणा का यह बोध, यह भाव। और वह करुणा तब अस्तित्व में आती है, जब हम दुःखभोग के पूरे विस्तार और पूरी गहराई को समझ पाते हैं। इस कारण, हमने दुःख के बारे में खूब विस्तार से बात की, केवल एक मनुष्य के दुःख के विषय में ही नहीं, अपितु मनुष्यता के सामूहिक दुःख के विषय में। इसे शाब्दिक या बौद्धिक तौर पर समझने में मत पड़िए, बल्कि कहीं और, अपने हृदय में, इस चीज़ को महसूस कीजिए। और चूँकि आप ही यह संसार हैं और यह संसार ही 'आप' है, यदि करुणा का यह जन्म होता है, तो आप अपरिहार्य रूप से एकत्व लाएँगे ही, आप ऐसा किए बिना रह ही नहीं सकते।

अनुवाद-संदर्भ

अनुवाद में पूरी सावधानी बरतने के बाद भी इसमें कुछ त्रुटियाँ रह सकती हैं; इसे बेहतर बनाने की गुंजाइश तो हमेशा बनी रहती है। इस संबंध में किसी भी आलोचना या सुझाव का हम स्वागत करेंगे और आगामी संस्करणों में अपेक्षित परिवर्तन किये जा सकेंगे। आपकी बहुमूल्य टिप्पणियों की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

—अनुवादक

पत्र-व्यवहार का पता:
अनुवाद एवम् प्रकाशन प्रकोष्ठ
कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, के.एफ.आईराजघ्
राजघाट फोर्ट, वाराणसी-221 001
E-mail: tpcrajghat@gmail.com